

रतन नाथ सरशार

क़मर रईस



भारतीय
साहित्य के
निर्माता

रतन नाथ सरशार

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य छपा है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ – रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज़ लिख रहा है। भारत में लेखन-कला के संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुनकोण्डा , दूसरी सदी ई०
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

रतन नाथ सरशार

लेखक

क़मर रईस

अनुवादक

जानकीप्रसाद शर्मा



साहित्य अकादेमी

Ratan Nath Sarshar : Hindi translation by Janaki Prasad Sharma of Qamar Rais' monograph in Urdu. Sahitya Akadami, New Delhi (1991), Rs. 10.

प्रथम संस्करण १९९१

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५ फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

विक्रय विभाग : 'स्वाति' मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

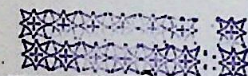
क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, २३ ए/४४ एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता ७०० ०५३

१७२, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई ४०० ०१४

३०४-३०५, अन्ना सलाई, तेनामपेठ, मद्रास-६०० ०१८

१०९, जे. सी. मार्ग, बंगलौर ५६० ००२



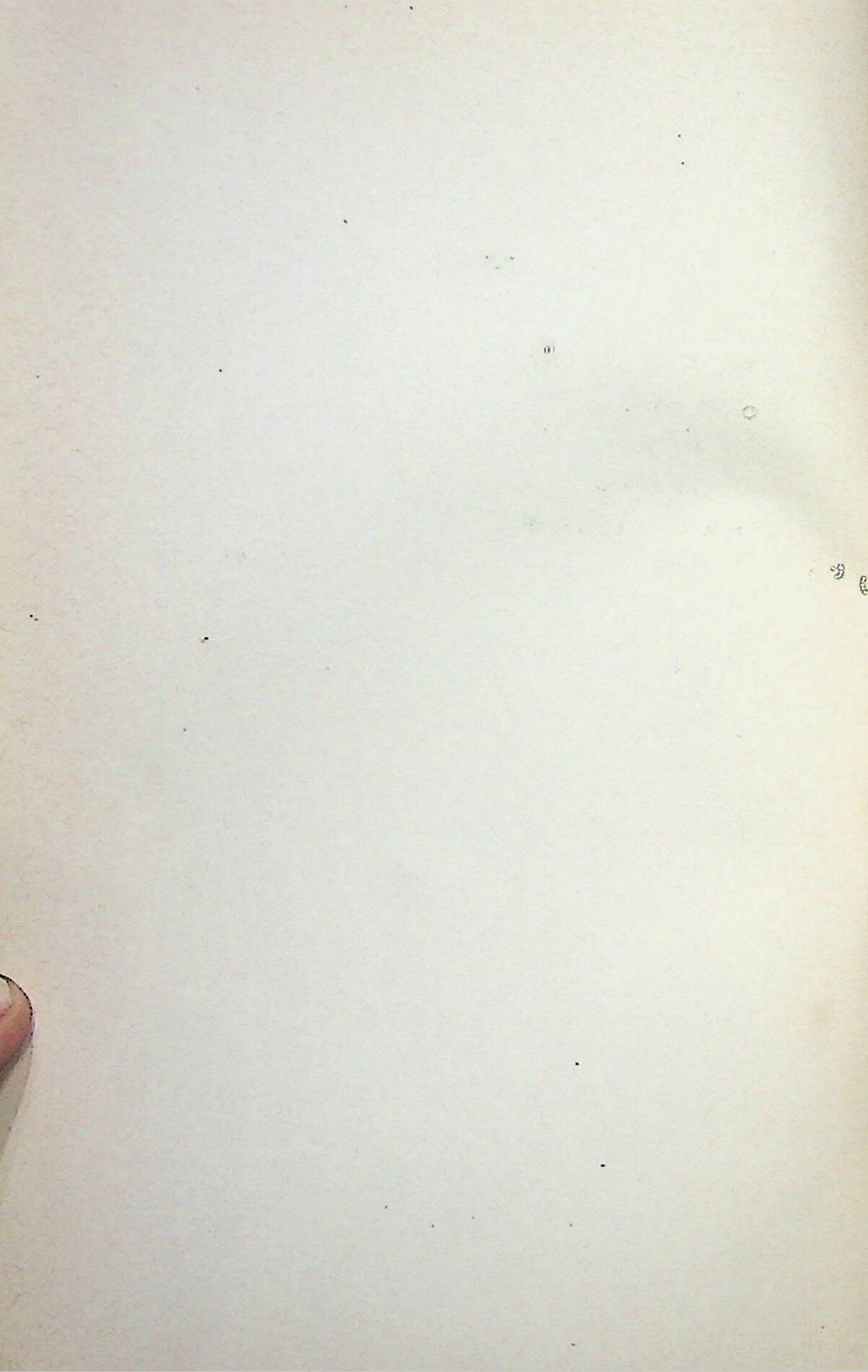
मूल्य दस रुपये

ISBN 81-7201-167-9

मुद्रण : लेज़र सैटिंग : मैरिट आर्ट्स, नयी दिल्ली ११० ०२८

मुद्रक : संजय प्रिंटर्स, दिल्ली ११० ०३२

अनुक्रम



दो शब्द

साहित्य अकादेमी ने 'भारतीय साहित्य के निर्माता' श्रृंखला के अंतर्गत ऐसे मूर्धन्य साहित्यकारों के जीवन और कृतित्व के बारे में विनिबंध प्रकाशित करने का सिलसिला शुरू किया है, जिन्होंने अपनी रचनात्मक और वैचारिक उपलब्धियों से भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है। उर्दू के साहित्यकारों में नज़ीर अकबराबादी और प्रेमचंद पर दो संक्षिप्त जीवनीपरक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'रतन नाथ सरशार' इस सिलसिले की तीसरी कड़ी है।

सरशार ने उर्दू कथासाहित्य को कुछ शाश्वत मूल्य वाली कृतियां प्रदान की हैं। उनके कृतित्व की मुख्य विशेषता पुराने लखनऊ के सांस्कृतिक परिवेश का जीवंत चित्रण है। सच तो यह है कि इस क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। वह उर्दू के पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने एक व्यापक और धर्म निरपेक्ष दृष्टि से जीवन और उसके रंगारंग पक्षों का अवलोकन किया और यथार्थ चित्रण की एक शैली का सूत्रपात किया, जिसमें सम्भ्रांत लोग ही नहीं, हर वर्ग और हर पेशे के आम आदमी के जीवन और सामाजिक परिवेश के भरे-पूरे चित्र मौजूद हैं। वह धर्म या रंग और नस्ल की बुनियाद पर मनुष्य को बाँटकर देने के पक्षधर नहीं हैं। वे मनुष्य को सिर्फ़ मनुष्य के रूप में, उनके सांस्कृतिक सम्बन्ध और व्यवहार की सापेक्षता में देखते हैं। वह अतीत की उन ह्रासोन्मुख शक्तियों और निष्प्राण मूल्यों को कड़ी आलोचना की नज़र से देखते हैं जो नैतिक और सांस्कृतिक ह्रास के मूल कारण हैं।

मानवीय भाईचारे और सामाजिक जागरूकता की यह वही चिन्तनधारा है, जिसने उनकी कृतियों को शक्ति प्रदान की और उन्हें ऐसे चरित्रों की सृष्टि करने की क्षमता दी, जो हमारी सामूहिक स्मृति और हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का हिस्सा बन चुके हैं।

यह एक खेदपूर्ण सच्चाई है कि उर्दू के कतिपय दूसरे प्रतिष्ठित साहित्यकारों की तरह सरशार के जीवन के बहुत से पहलू आज तक अज्ञात बने हुए हैं। उनके परिवार, शैशव और किशोरावस्था की शिक्षा-दीक्षा के बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होते। मैंने मिर्ज़ा जाफ़र हुसैन और लखनऊ के कतिपय दूसरे ऐसे वृद्धजनों से, जिन्होंने सरशार के समकालीनों और उनके वंशजों को देखा था, जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की, लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस उद्देश्य में मुझे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। इसलिए इस विनिबंध में उनके जीवन के अंतर्बाह्य पक्षों और रचना संसार का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें काफ़ी हद तक उसी सामग्री पर निर्भर रहना पड़ा जो सरशार के बारे में उनके कुछ समकालीन लेखकों के लेखों और कुछ

दूसरी ऐतिहासिक और शोधपरक कृतियों में उपलब्ध होती है। इसलिए इसमें किसी नयी शोध सामग्री की खोज निरर्थक होगी। मेरा प्रयास रहा है कि इस सामग्री और उनकी रचनाओं की रोशनी में सरशार के व्यक्ति और रचनाकार का एक भरा-पूरा, स्पष्ट और यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर सकूँ और एक कलाकार की हैसियत से उनकी महान कला की विशेषताओं से आज के पाठक-समुदाय को अवगत करा सकूँ।

यह एक सुखद संयोग है कि साहित्य अकादेमी यह पुस्तक उस समय प्रकाशित कर रही है जब सरशार की सर्वोत्कृष्ट कृति 'फ़साना-ए-आज़ाद' के प्रकाशन को (१९८० ई. में) सौ वर्ष पूरे हुए हैं।

— क़मर रईस

सरशार का लखनऊ

पंडित रतन नाथ सरशार की कृतियों का विषय लखनऊ और उसकी संस्कृति का पतन है। इस सांस्कृतिक पतन की तस्वीरें उन्होंने अपने बचपन के लखनऊ में देखी थीं, जो वाजिद अली शाह का युग (१८४६ से १८५६ ई.) था। बचपन के परिवेश के ये चित्र उनके मन-मस्तिष्क पर अंकित हो गये थे। सरशार नवाबी युग के पुराने लखनऊ में रहते थे। आस-पास सम्भ्रांत वर्ग के मुसलमानों की हवेलियाँ थी। अपने हमजोलियों और मित्रों के साथ वह आज़ादी और खुलेपन के साथ उनके घरों में आया-जाया करते थे। स्त्रियों की मुहावरेदार चटख़ारेदार टकसाली भाषा सरशार ने इन घरों और इसी वातावरण से ग्रहण की, जिसने बाद में उनके उपन्यासों में ज़िंदगी की रूह फूँक दी।

सरशार का लखनऊ जिस सांस्कृतिक पतन का नमूना था, उसकी जड़ें अतीत में दूर तक फैली हुई थीं। यह सीधे तौर पर उसी राजनीतिक उथल-पुथल और बदलाव का परिणाम था जिसके पीछे अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की साज़िशें और अवध पर प्रभुत्व से सम्बन्धित क्रूर कार्रवाइयाँ निहित थी।

दिल्ली में मुग़ल सल्तनत और संस्कृति के पतन के बाद नवाब सआदत ख़ाँ बुरहानुल्मुल्क ने अवध की सल्तनत की नींव डाली। उनके जाँनशीन नवाब सफ़दरजंग और फिर शुजाउद्दौला (१७५६ से १७७५) ने अपने सैन्य कौशल, राजनीतिक सूझबूझ और कुशल प्रशासन से इसकी बुनियाद को सुदृढ़ बनाया। उस समय तक अवध की राजधानी फ़ैजाबाद थी। कम्पनी के प्रभुत्व-विस्तार के कारण दिल्ली की राजनीतिक केंद्रीयता टूट रही थी उसकी संस्कृति छिन्न-भिन्न होने लगी थी। विद्वान और कलाकार ही नहीं, दूसरे क्षेत्रों के प्रतिष्ठित लोग भी दिल्ली छोड़कर दूसरी नयी बस्तियों की ओर प्रस्थान कर रहे थे। 'मुसहफ़ी' ने दिल्ली की तबाही और वीरानी की तस्वीर इन शब्दों में खींची है :

दिल्ली हुई है वीराँ सूने खँडहर पड़े हैं
वीरान हैं मोहल्ले सुनसान घर पड़े हैं
देखा तो इस चमन में बादे ख़िज़ाँ के हाथों
उखड़े हुए ज़मीं से क्या-क्या शजर पड़े हैं

दिल्ली की तबाही के मारे हुए बहुत से यशस्वी कलाकार अवध में शरण ले रहे थे। 'सौदा', मीर तक़ी मीर और 'मुसहफ़ी' जैसे कलाकार दिल्ली से निकलकर अवध के

अमीर और सुल्तानों का आश्रय ग्रहण कर रहे थे। एक बिसात उलट रही थी, दूसरी बिछ रही थी। शुजाउद्दौला के निधन के बाद नवाब आसफ़उद्दौला (१७७५ से १७९७ ई०) ने फ़ैज़ाबाद के स्थान पर लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया। आसफ़उद्दौला राज-काज और सैन्यबल के विस्तार के बजाए सभ्यता और संस्कृति के विकास में अधिक रुचि रखते थे। लखनऊ और उसके आस-पड़ोस के क्षेत्र काफ़ी उपजाऊ और सम्पन्न थे। सांस्कृतिक विकास के असंख्य साधन वहाँ मौजूद थे। कम्पनी के अधिकारी भी यही चाहते थे कि नवाब अपने प्रशासन और सेना की गुणवत्ता पर ध्यान देने के बजाय सभाओं और सुख-सुविधाओं में ज्यादा रुचि लेने लगें। उन्होंने भी रचनात्मक कार्यो में नवाब का उत्साह बढ़ाया। उन्हीं के संकेत पर नवाब आसफ़उद्दौला ने सेना की संख्या कम कर दी। इसके परिणाम-स्वरूप जो धनराशि बची उसे शहर की सजावट, निर्माण और यशप्राप्ति के कार्यो में व्यय कर दिया गया। अब्दुल हलीम 'शरर' 'गुज़िश्ता लखनऊ' में लिखते हैं :

> "शुजाउद्दौला जो रुपया फ़ौज और जंगी तैयारियों में ख़र्च करते थे, उसे आसफ़उद्दौला ने अपनी विलासप्रियता, शहर की सजावट और ख़ुशहाली के शौक में खर्च करना शुरू कर दिया। और चंद ही रोज़ के अंदर दुनिया की सारी धूम-धाम अपने यहाँ जमा कर ली . . . . . आसफ़उद्दौला की उदारहृदयता और विलास-प्रियता ने सारी प्रजा को भी भोग-विलास की ओर उन्मुख कर दिया था और किसी को वर्तमान के सुख के आगे उसके परिणाम पर विचार करने की ज़रूरत महसूस नहीं होती थी। इस विलास-प्रियता का नतीजा था कि प्रकट रूप में इन दिनों लखनऊ के दरबार में ऐसी शानो-शौक़त पैदा हो गयी थी जो कहीं और किसी दरबार में न थी और ऐसा ऐश का सामान जमा हो गया जो किसी जगह नज़र न आता।
>
> उन दिनों शहर लखनऊ ऐसी रौनक़ पर था कि हिंदुस्तान ही नहीं, शायद दुनिया का कोई शहर लखनऊ की गरिमा और सुंदरता की बराबरी न कर सकता होगा।"

विलासी मनोवृत्ति का यह सिलसिला आसफ़उद्दौला से वाजिद अली शाह के युग तक जारी रहा। नवाब और अमीर जैसे-जैसे भोग-विलास में डूबते जाते थे, वैसे-वैसे कम्पनी और उसके रेजिडेंट का हस्तक्षेप और राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ता जाता था। नवाब सआदत अली ख़ाँ (१८०१ से १८१९ ई०) से कम्पनी ने एक समझौते के माध्यम से रियासत अवध का आधा क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया। अब्दुल हलीम 'शरर'

लिखते हैं :

> "उन्होंने आधे से ज़्यादा मुल्क ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द कर दिया और समझे कि अब अपने अधिकार वाले क्षेत्र में निर्भीक और निर्द्वंद्व भाव से हुकूमत कर सकूँगा मगर अफ़सोस कि अब भी उन्हें इत्मीनान और चैन नसीब नहीं हुआ। जो मुल्क उनके अधिकार में छोड़ा गया था, उनमें भी जगह-जगह अंग्रेजी फ़ौज के कैम्प लगा दिये गये और फ़ौज का बड़ा अनुपात लखनऊ और उसके समीपवर्ती इलाक़े में लगाया गया।"

रियासत की आय का सबसे बड़ा स्रोत मालगुज़ारी था, जो किसानों से सख्ती के साथ वसूल किया जाता। सूखा, अकाल और दैवी विपत्तियों से त्रस्त होकर गरीब किसान, किशोर और किशोरियाँ आम वस्तुओं की तरह बेचे जाते थे, जो सम्पन्न लोगों और अमीरों के घरों में दासियों और गुलामों की हैसियत से जिंदगी बसर करते। कई दासियाँ (कनीज़ें) अपनी प्रतिभा और सुंदरता के कारण बेगमों का दर्जा हासिल कर लेतीं।

लखनऊ में जो एक नयी संस्कृति बन रही थी और उर्दू भाषा और साहित्य जिस नये साँचे में ढल रहे थे, आम तौर पर उसकी पहचान नाजुकख्याली, आलंकारिकता, रंगीनी और संकोच के भाव से की जाती है और इसे 'लखनवियत' की संज्ञा दी जाती है। यह तस्वीर का सिर्फ एक पहलू है। लखनऊ की संस्कृति के अपेक्षाकृत ज़्यादा, व्यापक और अर्थपूर्ण आयाम थे। हमारी जातीय संस्कृति को इन्होंने कई दृष्टियों से समृद्ध किया है।

नवाबों के युग में रक्षा सम्बन्धी ख़र्च नाममात्र के लिए रह गये थे। लखनऊ उत्तर भारत में शिल्प-कला और व्यवसाय का बड़ा केंद्र बन गया था। धन-धान्य की प्रचुरता थी। शहर के आम लोग भी सम्पन्नता और खुशहाली की जिंदगी बसर करते थे। बक़ौल शायर :

> खुदा आबाद रक्खे लखनऊ के खुश मिज़ाजों को
> हर इक घर ख़ाना-ए-शादी, हर इक कूचा है इशरत का

लखनऊ में नवाबों ने इमामबाड़े, मक़बरे और इमारतें बनवायीं। यद्यपि इनमें मुग़ल स्थापत्य कला का उत्कर्ष नहीं दिखाई देता, लेकिन वे हिंदुस्तानी, ईरानी और पाश्चात्य निर्माण-कला के सम्मिश्रण से एक अछूती शैली प्रस्तुत करती हैं। रूमी दरवाजा, कोठी दिलकुशा, फ़रह बख़्श, मोती महल, खुर्शीद मंजिल, छतर मंज़िल, मूसा बाग़ और क़ैसर बाग की इमारतें चित्रकारी और कारीगरी का अद्भुत नमूना थीं। इनमें हिंदू-मुस्लिम

एकता का प्रतिबिंब भी देखा जा सकता है जो लखनऊ के सामाजिक परिवेश का एक विशेष गुण रहा है। लखनऊ के विभिन्न क्षेत्रों में बाग़ लगवाये गये, भ्रमण-स्थल बनवाये गये। लोगों के पास अवकाश था और वे सैर-तमाशे के शौक़ीन थे। ऐशबाग़ या नौचंदी के मेले हों या दूसरे धार्मिक त्योहार और उर्स, हिंदू-मुसलमान भारी संख्या में सम्मिलित होते थे। यहाँ तक कि मुहर्रम की मजलिसों, जलसों, हज़रत अब्बास की दरगाह और इमामबाड़ों में भी हिंदू-मुसलमान दोनों श्रद्धा से जाते। सोज़ख़्वानी, मर्सियाख़्वानी, नौहाख़्वानी और हदीस ख़्वानी को एक सम्पूर्ण कला का दर्जा हासिल था। मीर अली हसन और मीर बंदा हसन जैसे कुशल और अद्वितीय सोज़ख़्वानों (मुहर्रम में 'सोज़' पढ़ने वाला) की शैली की घर-घर में नक़ल की जाती।

हास्य-विनोद और मनोरंजन से जुड़ी गतिविधियों में दास्तानगोई, भांड़ों की नक़्क़ाली, बहुरूपियों और नटों के तमाशे,क़व्वाली,संगीत, नृत्य और इंद्रसभाएँ – ये सब आम शहरियों की दिलचस्पी के शौक़ थे। घरेलू उत्सवों, मेलों और जलसों में हुनरमंद कलाकार शामिल होकर हज़ारों दर्शकों का दिल बहलाते थे।

नवाबों के जलसों और आयोजनों में ज़्यादा शालीनता, सजावट और शिष्टता होती थी। नवाब नसीरुद्दीन हैदर के दरबार में कई हज़ार कला-प्रवीण सुंदरियाँ थीं, जिनको जलसेवालियाँ कहा जाता था। वाजिद अली शाह ने एक 'परीख़ाना' बनाया था, जिसमें रूपवती स्त्रियों को नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जाती थी। इक़्तिदार उद्दौला 'तारीख़े इक़्तिदारिया' में जलसेवालियों का हाल इस तरह लिखते हैं :

> "हज़ार बारह सौ जलसेवालियाँ, हीरे-मोती से जड़ी और सजी हुई, मुलाज़िम थीं और सुना है कि जब जलसा होता था तो इसका तरीक़ा यह था कि ज़र्दपोशों की एक क़तार और सुर्ख़पोशों की जुदा क़तार और सब्ज़पोशों की जुदा क़तार है और बीच में मेज़ लगी है। उस पर जाम और गुलाबियाँ और हर रंग की शराब की बोतलें रखी हैं और हर तरह की शै मेज़ पर चुनी है और ये सब हज़ार-बारह सौ चंद्रमुखी सुंदरियाँ हाज़िर हैं, नाच हो रहा है और प्याला-ए-मय गर्दिश में है। हक़ीक़त में एक परीस्तान का आलम हो रहा है।"

लखनऊ के सांस्कृतिक जीवन में तवायफ़ों का विशेष स्थान था और उनकी बड़ी अधिकता थी। हर स्तर, हर रुचि की तवायफ़ें वहाँ मौजूद थीं। इनमें से कुछ डेरादारनियाँ कहलातीं, कुछ रंडियाँ, कुछ नोचियाँ। इनके अतिरिक्त डोमनियाँ, साक़नें, भटयारनियाँ, मनहारनियाँ और कुछ दूसरे पेशों से सम्बन्ध रखने वाली स्त्रियाँ भी लोगों का मनोरंजन

करती थीं और स्वप्न देखती थीं कि किसी बाँके अमीर या नवाब को लुभाकर सुख का जीवन व्यतीत कर सकें। इन नाचने-गानेवालियों में उच्च कोटि की तवायफ़ें न केवल नृत्य और संगीत में दक्षता रखती थीं, बल्कि भाषा-प्रयोग, सम्भाषण, हास्य-विनोद और हाज़िर जवाबी और सभा के शिष्टाचार में भी निपुण थीं। बहुत-सी तवायफ़ें शे'र कहती थीं और विशेष रचना-गोष्ठियों में हिस्सा लेती थीं। लोगों की रुचियों के परिष्कार के साथ-साथ इन तवायफ़ों ने ठुमरी और दादरे को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, जो हिंदुस्तानी संगीत को लखनऊ की देन है। नृत्य में क़थक को भी लखनऊ की तवायफ़ों ने ऊँचाई के चरम-बिंदु तक पहुँचाया।

गायिकाओं और नृत्यांगनाओं की देखभाल के लिए नवाबी दौर की हुकूमत में एक पृथक् विभाग था। लेकिन इनकी संख्या बढ़ती ही जा रही थी। रजब अली बेग सुरूर 'फ़साना-ए-इबरत' में लिखते हैं :

> "उन दिनों लखनऊ में रंडियों की ये कसरत हुई कि गली कूचे भर गये। अब रंडियों की हालत तबाह है।"

अब्दुल हलीम 'शरर' 'गुज़िश्ता लखनऊ' में लिखते हैं :

> "जैसी बाकमाल नाचने और बताने वाली रंडियाँ लखनऊ में पैदा हुईं, शायद किसी शहर में न हुई होंगी ...... ज़ोहरा और मुश्तरी शायरा और कोकिलकंठी गायिकाएँ ही नहीं अद्वितीय नृत्यांगनाएँ भी थीं। यहाँ की रंडियाँ आम तौर पर तीन जातियों की थीं। पहली कंचनियाँ, जो असली रंडियाँ थीं और उनका पेशा प्रायः देहव्यापार था ....दूसरी चूने वालियाँ, इनका असल काम चूना बेचना था लेकिन बाद को बाज़ारी औरतों के गिरोह में शामिल हो गयीं। तीसरी नागरियाँ। ये तीनों नाज़ो-अदा से भरी हुई बाज़ारी औरतें हैं जिन्होंने अपने-अपने गिरोह क़ायम कर लिये थे।"

हर व्यवसाय और हर वर्ग के लोग तवायफ़ों की महफ़िलों और उनकी संगति में आनंद की अनुभूति करते थे। एक तरह से उन्हें इस समाज में केंद्रीय हैसियत प्राप्त हो गयी थी। 'शरर' के अनुसार, "लखनऊ में मशहूर था कि जब तक इंसान को रंडियों की सोहबत मयस्सर न हो वह आदमी नहीं बनता।"

नवाबी युग में मादक पदार्थों का प्रयोग भी अधिकता के साथ होने लगा था। न केवल अमीर और नवाब, बल्कि आम लोग भी किसी न किसी नशे के आदी थे। गली-गली शराबख़ाने, चंडूख़ाने और भंगड़ख़ाने थे। अफ़ीम का सेवन भी आम था। स्वादिष्ट भोजन की तरह मादक पदार्थों में शालीनता पैदा कर ली गयी थी। नवाब

अमजद अली शाह (१८४२ से १८४७ ई०) यद्यपि धार्मिक और परहेज़गार आदमी थे और उनके मंत्री तथा सलाहकार धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे, लेकिन आबकारी का एक पृथक् विभाग उनके ज़माने में भी था। उसके नाज़िम मुज्तहिदुल अस्र[1] के एक क़रीबी मित्र थे। अतएव किसी शायर ने उस में यह शे'र कहा था :

पिये न बादा जो इस दौर में वो नारी है
महब साक़ी-ए-कोसर को आबकारी है

दूसरे मनोरंजक कार्यों और तमाशों में जानवरों की लड़ाइयाँ लखनऊ के समाज का मुख्य हिस्सा बन गयी थीं। 'शरर' ने शेर, हाथी, चीते, तेंदुए, गेंडे और मेंढे की लड़ाइयों का विस्तार के साथ वर्णन किया है कि किस तरह नेपाल की तराई और दूसरे जंगलों से हिंस्र पशु लाये जाते और फिर बड़े-बड़े कटहरे बनाकर बड़े प्रबंध के साथ लड़ाइयाँ की जातीं, जिन्हें अमीरों के साथ लखनऊ के आम लोग भी बड़े उत्साह और आनंद के साथ देखते। बड़े जानवरों की लड़ाइयाँ तो ख़ास हुक्मरानों का शौक़ था। मुर्ग़ और बटेर की लड़ाइयाँ आम लोगों के मनोरंजन का साधन थीं। लड़ाई के लिए मुर्ग़ और बटेर को खूब सजा-सँवार कर और बड़े ख़र्च के साथ तैयार किया जाता था। उन्हें ख़ास तरह का आहार दिया जाता था। अंगों की मालिश होती। चोंच और नोंकें बनाई जातीं। मुर्ग़ और बटेर की पालियाँ कई-कई दिनों तक जारी रहतीं थीं। जानवरों की इन रक्तपात पूर्ण लड़ाइयों का ज़िक्र करते हुए 'शरर' ने सही लिखा है कि "जब लोगों को राजकाज और सेना की तैयारियों से फुर्सत मिली और मैदाने.जंग में खड़े होने का हौसला न रहा, तो वीरता और पराक्रम की ग्रंथि को संतुष्ट करने के लिए जानवरों की लड़ाइयाँ की जाने लगीं। यह शौक़ यों तो थोड़ा-बहुत सब जगह है, मगर इसमें जिस क़दर लखनऊ वाले डूबे रहे और इन निरर्थक और क्रूर अभिरुचियों को इन लोगों ने जिस ऊँचाई तक पहुँचाया, यह सब दूसरी जगह के लोगों ने सपने में भी न सोचा होगा।"

सांस्कृतिक पतन के यही अभिलक्षण लखनऊ की शायरी में भी देखे जा सकते हैं। देह के आकर्षण और वासनाप्रियता के आग्रहवश निहायत ही चलताऊ और निकृष्ट इश्क़िया शायरी होने लगी जिसे 'मुआमला बंदी' का नाम दिया गया। रेख़्ती की लोकप्रियता भी इसी प्रवृत्ति का संकेत है। रूप और शिल्प के चमत्कारों की अतिशयता ने लखनऊ की शायरी ही नहीं गद्य को भी कृत्रिमता और संकोच से बोझल कर दिया। शब्द-लाघव की सायासता ने शायरी को मानवीय पीड़ा से वंचित करने में ख़ास भूमिका अदा की।

---

१. धार्मिक विषयों में अंतिम निर्णय देनेवाला व्यक्ति

अलबत्ता यह ज़रूर हुआ कि जिस तरह शास्त्रीय संगीत और नृत्य को विशिष्ट वर्ग की परिधि से बाहर निकालकर आम लोगों के बीच पहुँचाया गया, उसी तरह शायरी भी आम लोकप्रियता के सोपान पर पहुँच गयी। लखनऊ की लोकप्रिय शायरी, नृत्य, संगीत और हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिक सद्भाव की सबसे भरपूर औरं सम्पूर्ण अभिव्यक्ति अमानत की 'इंदर सभा' में हुई है। सैयद मसूद हसन रिज़वी के अनुसार यह हिंदू-मुस्लिम भावनाओं का संगम है। इसका नायक राजा इंद्र कोई मुग़ल शहज़ादा नज़र आता है। इसमें एक ओर यदि वसंत, होली और सावन के मधुरगीत और ठुमरियाँ हैं तो दूसरी ओर ग़ज़ल और मसनवी का लुत्फ़ है। लखनऊ में जनसाधारण के बीच उर्दू शायरी की लोकप्रियता और एक सांझीं संस्कृति के विकास का ज़िक्र करते हुए प्रो. एहतेशाम हुसैन लिखते हैं :

> "लखनऊ के दरो-दीवार से शे'रो-शायरी की आवाज़ें बुलंद होने लगी थीं। दूकान पर बैठनेवाले, राह चलनेवाले विभिन्न पेशों में लगे हुए लोग शे'र फ़हमी और सुखनसंजी के राज़ से आशना हो गये थे। वे अदब बोलते थे और शायरी में बातें करते थे। मुहावरों को बामौक़ा इस्तेमाल करते और रोज़मर्रा को निखारते थे। शे'रों के सही और ग़लत होने पर बहसें होती थीं। लेकिन अब शालीनता ने दिलों में घर कर लिया था।"
>
> "अगर आसफ़उद्दौला ने होली के जलसों में शरीक होकर वसंत के अवसर पर वासंती परिधान पहनकर, नवाबों और अमीरों ने स्थानीय मेलों में शरीक होकर, शे'रो-नग़्मा की सरपरस्ती कर के अपनी व्यापक दृष्टि का सुबूत दिया था तो हुकूमत का दौर आते-आते हिंदू-मुस्लिम भावनाओं के मेल से 'इंदर सभा' अस्तित्व में आया। रासलीला को नये सिरे से नया रूप दिया जा रहा है और हिंदुस्तानी नृत्य और संगीत को उस बुलंदी पर पहुँचाया जा रहा है जिसकी कल्पना उस पतन के दौर में नहीं की जा सकती थी। धार्मिक एकता की बुनियाद पर इस संस्कृति का विकास बहुत अर्थपूर्ण है।"

१८५६ ई० में अवध के अंतिम शासक वाजिद अली शाह के अपदस्थ होने के बाद और फिर १८५७ के आंदोलन में इस पतनशील संस्कृति का अस्तित्व नष्टप्राय हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य की हुकूमत के क़ायम होने से एक नयी व्यवस्था की बुनियाद पड़ी। नवाबी और जागीरदारी के पतन के साथ-साथ उनसे जुड़े हुए पुराने पेशों के लोग भी जीवन-यापन के नये साधन ढूँढ़ने लगे। समाज में नये सम्बन्ध एवं नये मानसिक व्यवहार अपना सिक्का जमाने लगे। इस नयी व्यवस्था में मध्यवर्ग, जिसमें व्यापारी,

वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, अफ़सर और प्रोफ़ेसर शामिल थे, एक़ नयी शक्ति बन कर उभरने लगा। अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ-साथ सुधार आंदोलनों ने भी सामाजिक जागरूकता और स्वाधीनता का एक नया वातावरण तैयार किया। डाक-तार की नयी व्यवस्था, पुलिस, अदालतों और नये सरकारी दफ़्तरों की स्थापना, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और नये पाश्चात्य ज्ञान का प्रचार-प्रसार थे तथा दूसरे ऐसे हालात थे जिनके प्रभाव से सामाजिक ढाँचा बहुत तेज़ी के साथ बदल रहा था।

रतन नाथ सरशार ने पुराने लखनऊ की अस्त होती हुई, बेजान और उजड़ी संस्कृति भी देखी थी और इस उभरते हुए जन समुदाय के सक्रिय जीवन से भी वह जुड़े हुए थे। सिर्फ़ यही नहीं वह इस जीवन के स्वस्थ और सशक्त पहलुओं, इसमें जन्म लेनेवाले नये मूल्यों और नये मानवीय सम्बन्धों को सम्मान की दृष्टि से देख रहे थे। पिछली जागीरदारी व्यवस्था की घृणास्पद जड़ता और उसकी रूढ़िवादिता भी उनके सामने थी। इस नयी व्यवस्था में सक्रिय शक्तियाँ व्यक्ति के सामने नयी सम्भावनाओं के द्वार खोल रही थीं और निरंतर आगे क़दम बढ़ाने को उकसा रही थीं। रेलगाड़ी, पत्र-पत्रिकाएँ और अख़बारों के ज़रिए व्यक्ति अब शेष दुनिया से अपना सम्बन्ध जोड़ रहा था। समाज और प्रकृति से उसकी लाग-डपट की शुरूआत हो रही थी। ये नयी शक्तियाँ उसकी क्षमताओं और साहस को ललकार रही थीं और इस व्यापक परिवेश में वह अपने अस्तित्व और अपने सपनों को क़ायम रखने की नित नयी युक्तियाँ खोज रहा था।

लखनऊ का सरशार

पंडित रतन नाथ दर, जो बाद में 'सरशार' कहलाये, का जन्म १८४६ ई० के अंत में पुराने लखनऊ के कश्मीरी मोहल्ले में हुआ।[1] नवाबी युग में इस मोहल्ले में कश्मीरी के बहुत से परिवार आबाद हो गये थे। वे अपनी प्रतिभा, सूझबूझ, सुप्रबंध और विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध थे। रतन नाथ के पिता पंडित बैजनाथ दर भी व्यापार के सिलसिले में कश्मीर से आकर लखनऊ में बस गये थे। अपने संस्कार, शालीनता और शिष्टाचार के कारण वे पुराने लखनऊ के प्रतिष्ठित लोगों में सम्मान की दृष्टि से देखे जाने लगे थे।

रतन नाथ की आयु मुश्किल से चार वर्ष की होगी कि उनके पिता बैजनाथ दर का असामयिक निधन हो गया। घर परिवार के कुछ बड़े-बूढ़ों ने बालक रतन नाथ को संरक्षण दिया और माँ ने परवरिश की। पाँच-छः वर्ष की अवस्था में उन्हें फ़ारसी और अरबी शिक्षा के लिए एक मक्तब में विधिवत् प्रवेश दिलाया गया। इस मक्तब में मोहल्ले के हिंदू और मुसलमान बच्चे साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। चकबस्त ने लिखा है कि हालाँकि उन्हें अरबी और फ़ारसी में विशेष दक्षता प्राप्त न हो सकी लेकिन उनकी अभिरुचि इतनी गहरी थी कि विद्वानों के सत्संग में अपना रंग जमा लेते थे।

कुछ स्वभावगत कठिनाइयाँ कुछ पिता का साया सिर पर न होने से रतन नाथ बचपन से ही उद्दंडता, आज़ादी और उदासीनता का जीवन बिताने लगे। उनके लिए मक्तब की नीरस किताबों से ज़्यादा दिलचस्प और अर्थपूर्ण आसपास की गलियाँ, कूचे, मेले और तमाशे थे। इसके विपरीत उनके छोटे भाई पंडित बिशम्भर नाथ पढ़ने-लिखने के शौकीन थे, जो बाद में उत्तर प्रदेश के डिप्टी कलक्टर के मुंसिफ के रूप में पदासीन हुए। लेकिन रतन नाथ के लिए निष्प्राण पुस्तकों से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण एक अस्त होती हुई संस्कृति की आखिरी बहारें, उसकी गहमागहमी और रंगीनी थी। उनके जीवन के आरम्भिक दस वर्ष नवाब वाजिद अली शाह के युग में गुज़रे। इस दौर में राजनीतिक रूप से अवध की रियासत और हुकूमत पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। लेकिन दूसरी और लखनऊ की मिटती हुई संस्कृति का दिया जैसे बुझने से पहले भड़क उठा हो।

---

१. सरशार की वास्तविक जन्म-तिथि तो प्राप्त नहीं हुई लेकिन अधिकांश शोधकर्ताओं की आम राय है कि वह १८४६ ई० के अंत में पैदा हुए।

सरशार के समकालीन और मित्र पंडित बिशननारायण दर ने सरशार की कला पर अपने एक लेख में उस युग का ज़िक्र इन शब्दों में किया है :

"सल्तनत अवध की सियासी हालत चाहे कैसी ही क्यों न हो, उसकी राजधानी सारे हिंदुस्तान के आकर्षण का केन्द्र थी। हर तरफ़ हुस्न बरसता था, ऐशो-इशरत का दौर-दौरा था। घर-घर में ज़िंदादिली का राज था। जगह-जगह नृत्य और संगीत की महफ़िलें गर्म थीं। ज़िंदगी फूलों की मस्ती के साथ झूम रही थी। जादूभरा संगीत मन और प्राण को आनंदित कर रहा था। माहौल और फ़िज़ा राग-रंग में डूबे हुए थे। . . . . करने को कोई गंभीर काम न था। भावुक आकांक्षाओं का साम्राज्य था . . . . पुरुष रखैलें रखते थे और स्त्रियाँ प्रेमी।"

शायरी, संगीत, महफ़िलें और सौन्दर्य-रसिकता के इस रंगीन वातावरण में सरशार ने आँखें खोलीं थी। किशोरावस्था में वह अपने हमजोलियों के साथ कभी ऐशबाग़ के मेलों की सैर करते होंगे, कभी (मुहर्रम के ज़माने में) आग़ा बाकर और हुसैनाबाद के इमामबाड़ों की रोशनी और रौनक़ देखते होंगे। चहल्लुम के ज़माने में तालकटोरे की कर्बला और शहर की सड़कों के जुलूस का नज़ारा करते होंगे। ये जुलूस, तमाशे और मेले और इनमें सम्मिलित हज़ारों लोग उनकी चेतना को उकसाते थे। वे उनकी जिज्ञासा और कल्पनाशीलता में वृद्धि करते थे। उनकी रचना की प्रेरणा इन्हीं में थी। ब्रजनारायण 'चकबस्त' ने अपने एक लेख में लिखा है :

"सरशार जिस मकान में रहते थे उसमें इस्लाम को माननेवाली ख़ानदानी पर्दानशीन औरतें रहती थीं, हज़रत सरशार ने लड़कपन में उर्दू ज़ुबान इन्हीं शरीफ़ ख़ातूनों से सीखी और इन्हीं के सामीप्य से उनको बेगमों की जीवन-शैली की बहुत कुछ समझ शैशव में ही हो गयी थी। साधारण आदमी पर तो इस शिक्षा का कोई प्रभाव न होता। हज़रत सरशार में प्रतिभा और समझ का पैनापन था, उनके लिए ऐसी पवित्र संगति कीमिया (मूल्यवान रसायन) हो गयी।"

सरशार ने निःसंदेह बेगमों के जीवन, बिगड़े हुए नवाबों और अमीरों के जीवन के चित्र भी खींचे हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि उनका मन लखनऊ के आम लोगों के जीवन में रमा था। हर रुचि, हर व्यवसाय और हर वर्ग का आदमी। दरबान, मुसाहिब, बाँके, बहुरूपिए, साज़िंदे, भटियारनें, साकिनें, डोमनियाँ, मनहारिनियाँ, चंडूबाज़,

अफ़ीमची—किंबहुना वे तमाम लोग जिनसे लखनऊ के जीवन में रौनक़ और हरकत थी। पंडित ब्रजकिशन गुर्टू अपने एक लेख में लिखते हैं :

> "सरशार जब राह गली चलते तो आँख और कान खोलकर चलते थे। कहीं मछली वाली लाला से लड़ रही है। कहीं धोबन धोबी से उलझ रही है। कहीं कहार डोली ले जा रहे हैं कहीं भटियारिन मुसाफ़िर से राज-नियाज़ की बातें कर रही है। कहीं चीनी बाजार और चुनिया बाज़ार की बहस अफ़ीमचियों में छिड़ी हुई है।"

दुनिया के कुछ दूसरे महान् उपन्यासकारों की भाँति सरशार के वास्तविक विद्यालय आसपास के यही आम लोग, उनके दुख-सुख, त्योहार और मेले-ठेले थे।

१८५७ की क्रांति असफल होने के बाद जब सारे देश में अंग्रेज़ी हुकूमत का प्रभुत्व स्थापित हुआ तो लखनऊ में भी एक नयी बिसात बिछी। अंग्रेज़ी भाषा के स्कूल तथा आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के लिए कालेज खुलने लगे। प्रगतिशील विचारों के लोग आधुनिक शिक्षा और समाज-सुधार के आंदोलनों में सोत्साह भाग लेने लगे।

सरशार आरम्भिक शिक्षा के बाद कैनिंग कॉलेज के स्कूल में प्रवेश पा गये। उनके संरक्षक और आत्मीय जन चाहते थे कि वे उच्च शिक्षा ग्रहण करें। लेकिन स्कूली पढ़ाई में भी उनका दिल नहीं लगता था। उनके समकालीन और जीवनीकारों ने कहीं इसका उल्लेख नहीं किया है कि उन्होंने किस कक्षा तक पढ़ा और कौन से प्रमाण-पत्र उन्होंने प्राप्त किये ? उनके एक समकालीन सर अब्दुल क़ादिर ने अपनी एक अंग्रेज़ी पुस्तक में लिखा है :

> "जब वह बड़े हुए तो उन्हें अंग्रेज़ी तालीम हासिल करने का मौका मिला। उन्होंने केनिंग कॉलेज में दाखिला ले लिया जो आधुनिक शिक्षा के लिए क़ायम हुआ था। वह कॉलेज की शिक्षा पूरी न कर सके लेकिन अंग्रेज़ी भाषा की अच्छी-ख़ासी समझ पैदा करके कॉलेज से निकले। जिसमें बाद में उन्होंने अपने परिश्रम और अध्ययन से वृद्धि की और जो उनकी पत्रकारिता और रचनात्मक लेखन में बेहद लाभदायक सिद्ध हुई।"

श्याम मोहन लाल 'जिगर' बरेलवी के पिता कन्हैयालाल, सरशार के सहपाठी थे। 'जिगर' साहब उनके हवाले से अपनी पुस्तक 'यादे रफ़्तगाँ' में सरशार की अंग्रेज़ी शिक्षा के बारे में लिखते हैं :

> "इस जुबान में तालीम कैनिंग कॉलेज, लखनऊ में पायी लेकिन कोई डिग्री हासिल नहीं की। इन पंक्तियों के लेखक के स्वर्गीय पिता और सरशार इसी

कॉलेज में सहपाठी थे। वह फ़रमाया करते थे कि अध्यापकों ने सरशार को आज़ाद कर रखा था। नंगे सिर, बाल बिखराये हुए, अचकन के बटन खुले अजब बेढंगे अंदाज से क्लास में आया करते थे। पढ़ने-लिखने से कोई सरोकार न था। ऐसे में कोई डिग्री क्यों कर मिलती ?"

सरशार के एक जीवनीकार डॉ. सैयद लतीफ़ हुसैन ने लिखा है कि उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा ज़्यादा-से-ज़्यादा नवीं कक्षा तक प्राप्त की। स्कूल की औपचारिक शिक्षा शायद इतनी ही हो लेकिन यह वास्तविकता है कि उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओं पर उन्हें असाधारण अधिकार था। उर्दू और फ़ारसी के बुलंद पाया शायरों का कलाम उन्होंने इतनी निष्ठा और लगन के साथ पढ़ा था कि सैकड़ों शे'र कंठस्थ हो गये थे। उर्दू की दास्तानों के अलावा उन्होंने अंग्रेज़ी के कथा-साहित्य का अध्ययन भी किया था। साथ ही, वह पश्चिम के आधुनिक ज्ञान और चिंतन से भी अपरिचित नहीं थे।

लखनऊ के ज़िंदा दिल दोस्तों की संगति में उन्हें शराब पीने का चस्का पड़ चुका था। खुलापन, बेपरवाही और तमाशबीनी उनके स्वभाव का अंग बन चुकी थी। शायद उनकी इसी दशा को देखकर उनका विवाह कर दिया गया। लेकिन यह बंधन भी उन्हें शराबनोशी और यारबाशी से अलग न कर सका। जब दायित्वों का बोझ बढ़ा तो ज़िला खीरी के सरकारी स्कूल में अध्यापक हो गये।

यह १८७५-७६ का ज़माना था, जब उनकी अवस्था उनतीस-तीस वर्ष से अधिक नहीं थी। लखनऊ के माहौल से दूरी तथा एकाकीपन के एहसास ने उन्हें लेखन की ओर प्रेरित किया। फ़ारसी और उर्दू दोनों भाषाओं में लेख लिखने लगे। लाला श्रीराम ने 'ख़ुम्ख़ाना-ए-जावेद' में लिखा है कि वह १८७६ ई० में खीरी से 'अवध पंच' के लिए लेख भेजा करते थे। इसके अतिरिक्त 'मरासला-ए-कश्मीर', 'मरातुल हिंद' और कुछ दूसरे अख़बारों में भी लिखते थे। अंग्रेज़ी से उर्दू भाषा में अनुवाद पर उन्हें असाधारण अधिकार प्राप्त था। स्वभाव में आवेग, भावों में स्फूर्ति और उसपर भाषा में अतिशय लालित्य—ये वे विशेषताएँ थीं जिनके कारण उनके आरम्भिक लेखन ने दृष्टि संपन्न लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। ८ मई, १८७७ के 'अवध पंच' में (जो उत्तर भारत का सबसे लोकप्रिय रिसाला था) उनका एक लेख पत्र के रूप में प्रकाशित हुआ। यह एक रूपकात्मक निबंध है, जिसमें हिंदुस्तान को एक बग्घी के रूप में प्रस्तुत किया है। हिंदू-मुसलमान इसको खींचने वाले दो घोड़े हैं। बग्घी बड़े आराम से चल रही थी कि अचानक जहालत के रेगिस्तान में फँस गयी। यह लेख हास्य-व्यंग्य और नाटक की शैली में लिखा गया है। इसके कुछ अंश यहां द्रष्टव्य हैं :

हबीब : अरे मियाँ ख़ामोश रहो, खुदा का वास्ता, वल्लाह क्या झिक-झिक लगायी है। ये लड़ी वो अड़ी, ये लो बग्घी अड़ गयी। पहिए धँसे जाते हैं। घोड़ों का दम टूट गया। इलाही ख़ैर। या खुदा मदद दे। हमीयते क़ौम की दुहाई। हुब्बुलवतनी की दुहाई। देखा हम न कहते थे ज़माना बहुत नाजुक है। खुदा चश्मे ज़ख़्मे हवादस से बचाये। कहीं फ़िसाद की नज़रे-बद असर तक न पहुंच जाये। आखिर वही हुआ।

लबीब : खुदा वहशत को सलामत रखे। खुदा के लिए बताइये कि यह बग्घी किसकी है ? घोड़ें कैसे हैं ? यह इसरार क्या है ? ये लोग कौन हैं ? कोचमैन किस जंगल से पकड़ आये हैं ?

हबीब : ऐ वल्लाह तुमको अभी तक यह नहीं मालूम। आइए हम बता दें बंदानवाज़ यह बग्घी नहीं हिंदुस्तान है। ये घोड़े नहीं एक हिंदू, एक मुसलमान है। ये दोनों हिंदुस्तान की बग्घी को टिकड़ी की तरह खींच रहे थे कि अचानक जहालत के रेगिस्तान में बग्घी अड़ गयी। कोचमैन जंगल से नहीं, जैसा मेहरबान ने फ़रमाया, यह भेड़िये की भाटी से पकड़ आये हैं। ये तहज़ीब और आज़ादी दो कोचमैन हैं। हिंद की बग्घी को जहालत के रेगिस्तान से निकाले लिये जाते थे कि एक न देखने लायक़ अशुभ घटना हो गयी। बग्घी के लड़ते ही एक मौलाना साहब एक पहिए पर और एक महाराज सरस्वती दूसरे पहिए पर ज़ोर लगाने लगे। वे मुसलमान के तरफ़दार, ये हिंदुओं के मददगार।

लबीब : बारक अल्लाह, सुबहान अल्लाह, लाहौल विला[1], इस्तग़फ़र अल्लाह[2]।

हबीब : ई एहतिजाज ज़िद्दैन चमानी दारद[3]। बारक अल्लाह और लाहौल, यह अच्छी गिरह लगायी।

लबीब : पीरो मुर्शद पहले अपनी अक्ल की मरम्मत कीजिए। बरसात के दिन क़रीब हैं। फिर हमारे कलाम पर एतराज़ जड़िएगा। बारक अल्लाह और सुबहान अल्लाह से आपकी फ़िक्रे रसा की तारीफ़ की। क्या सटीक मज़मून सूझा। और लाहौल अपनी समझ पर कि बिना समझाये ख़ाक न समझे। अब यह फ़रमाइए इधर-उधर नीम टर। आधे तीतर आधे बटेर बने कौन खड़े

---

१. घृणा या उपेक्षा सूचक एक वाक्य २. ईश्वर पापों को क्षमा करे।

३. इस अंतर्विरोधी प्रतिरोध का क्या अर्थ है? क्योंकि बारक अल्लाह अच्छे काम के लिए आता है, लाहौल बुरे काम के लिए।

हैं। ये जिनके रंग-ढंग और बहस-मुबाहिसे से वहशत बरसती है। इस वक़्त अब और सवाल पूछूँ तो गुनाहगार।

हबीब : मौलाना साहब के करीब तो ख़ैर अंग्रेज़ी दाँ मुसलमान खड़े हैं कि अगर मौलाना साहब ज़ोर लगाते-लगाते थक जायें तो मदद को आयें। महाराज सरस्वती के पास नौजवान अंग्रेज़ी दां डटे हैं, अगर सरस्वती थक जायें तो वे जुट जायें। इलाही इस बग्घी को रेगिस्ताने-जहालत से निकाल।"

अब से सौ साल पहले लिखी हुई सरशार की इस रचना में जातीय भावनाएँ भी हैं और हास्य-व्यंग्य का पुट भी। उनका यह वाक्य अंग्रेजी साम्राज्य के ख़िलाफ़ उनके घृणा के भाव को उजागर करता है कि बग्घी का कोचमैन (अंग्रेज़ हाकिम) "भेड़िए की भाटी से निकलकर आया है।" उनके अनुसार भारत की पराधीनता का मूल कारण 'जहालत' याने अशिक्षा है। सरशार की इस गद्य-शैली में रजब अली बेग सुरूर की साज-सज्जा और कृत्रिमता नहीं, लेकिन लखनऊ के मुहावरे और लबो-लहजे की मिठास और बेबाकी ज़रूर है।

सरशार का यह निबंध 'अवध पंच' में प्रकाशित हुआ था जो लखनऊ से निकलने वाला उर्दू का पहला और लोकप्रिय हास्य-व्यंग्य प्रधान अख़बार था। मुंशी सज्जाद हुसैन इसके सम्पादक थे। इसी ज़माने में मुंशी नवलकिशोर ने 'अवध अख़बार' जारी किया। इसके लिए उन्हें एक योग्य सम्पादक की तलाश थी। रतन नाथ सरशार के ये रोचक निबंध उनकी नज़र से ज़रूर गुज़रे होंगे। सर अब्दुल क़ादिर लिखते हैं :

"सरशार की नयी भंगिमा का पहला नमूना 'अवध पंच' में प्रकाशित हुआ जो लखनऊ का एक हास्य अख़बार था। जब स्वर्गीय मुंशी नवलकिशोर ने पंडित रतन नाथ सरशार की शोहरत की चर्चा सुनी और उनकी गद्य-शैली के कुछ नमूने देखे, (जो उस ज़माने में उर्दू और फ़ारसी पुस्तकों के सबसे बड़े प्रकाशक थे) तो उन्होंने सरशार को 'अवध अख़बार' का संपादक बनने का निमंत्रण दिया।"

'अवध अख़बार' के सम्पादन से सरशार के जीवन का एक नया दौर शुरू हुआ। १८७८ ई० के अंत में वह इस अख़बार से जुड़े और १८९३ तक वे इस अख़बार के सम्पादकीय दायित्वों को कुशलता और सूझ-बूझ के साथ निभाते रहे। इसी अख़बार में उनके कुछ उपन्यास शृंखलाबद्ध प्रकाशित हुए। संयोग से उनकी देशव्यापी ख्याति और रचनात्मक उत्कर्ष का भी यही दौर था। उनका सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'फ़साना-ए-आज़ाद' सितंबर १८७८ से दिसंबर १८७९ ई. तक 'अवध अख़बार' के परिशिष्ट के

रूप में क़िस्तवार प्रकाशित हुआ। यही वह उपन्यास है जो उर्दू में सांस्कृतिक परिवेश के चित्रांकन की दृष्टि से श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में आता है। जिसने उर्दू भाषा को कुछ अविस्मरणीय पात्र दिये। १८८० ई. में नवलकिशोर प्रेस ने इस उपन्यास को चार खंडों में प्रकाशित किया।

१८८७ ई. में सरशार का दूसरा उपन्यास 'जामे सरशार', जिसकी क़िस्तें 'फ़साना-ए-जदीद' के नाम से 'अवध अख़बार' में छप चुकी थीं, नवलकिशोर प्रेस से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसी तरह 'सैर कोहसार' १८९० में प्रकाशित हुआ। आगे के पृष्ठों में इन कृतियों पर विस्तार से बातचीत की गयी है।

लखनऊ इस दौर में साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया था। मुंशी सज्जाद हुसैन, पंडित त्रिभुवननाथ हिज्र, पंडित बिशन नारायण दर, अब्दुल हलीम शरर और मिर्ज़ा रुस्वा उस युग के नामवर साहित्यकार थे। सरशार के इनसे मित्रता के सम्बन्ध थे। यद्यपि इनमें से कुछ से उनकी साहित्यिक नोंक-झोंक भी चलती रहती थी। आर्थिक निश्चिंतता के इस दौर में सरशार की शराब-नोशी में भी इज़ाफ़ा हो गया। आज़ादी और फक्कड़पन उनके स्वभाव का अंग था। वह कोई काम पूरी गम्भीरता और लगन के साथ जमकर नहीं कर पाते थे। उनके समकालीनों ने लिखा है कि उन्होंने अपने अधिकांश उपन्यासों की क़िस्तें क़लम उठाकर बिना सोचे लिख दीं और कभी इन पर पुनर्दृष्टि की ज़रूरत महसूस नहीं की। डॉ. राम बाबू सक्सेना ने 'तारीख़े अदब उर्दू' में कहा है :

> "जब कभी उनसे कोई लेख लिखाना होता तो प्रकाशक शराब की एक बोतल पेश करते और वह उस लेख को लिख डालते।"

पंडित आनंद नारायण मुल्ला, सरशार के बारे में अपने एक लेख में लिखते हैं :

> "हर शाम को छापाख़ाना का चपरासी उनके मकान पर आता था और नशे की हालत में सरशार घंटे दो घंटे में जो कुछ घसीट कर दे देते थे, वही छप जाता था।"

अपने एक शे'र में सरशार ने खुद भी स्वीकार किया है :

> पीने पे जब आ जाते हैं फिर बस नहीं करते
> मयख़ाने में सुनते नहीं 'सरशार' किसी की।

गद्य के साथ-साथ सरशार ने शायरी में भी अपनी प्रतिभा दिखाई थी। मुज़फ़्फ़र अली 'असीर' के शार्गिद थे, जो 'मुसहफ़ी' के प्रिय शागिर्दों में से एक थे। सरशार की ग़ज़लों में भावतरलता और रंगीनी के बावजूद लखनऊ का पारम्परिक रंग मुखर है।

अलबत्ता उनकी कुछ नज़्मों में सोच और एहसास का आधुनिक अंदाज झलक उठता है। अतीत के प्रासंगिक मूल्यों को आत्मसात् करने के बावजूद उनके पास एक आधुनिक मस्तिष्क था। वे हमेशा आगे की तरफ़ देखते थे। उनके एक मित्र पंडित बिशन नारायण दर इंगलैंड से बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके वापस आये तो रूढ़िवादी कश्मीरी ब्राह्मणों ने उनके खिलाफ़ एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। सरशार को इन विरोधपूर्ण गतिविधियों की सूचना थी। इसलिए बिशन नारायण दर के अभिनंदन समारोह के लिए उन्होंने 'तोहफ़ा-ए-सरशार' शीर्षक से एक मसनवी लिखी। इसमें धर्म के उन स्वनामधन्य मठाधीशों की खूब ख़बर ली है जो आरोप लगाते थे कि समुद्र और यूरोप की यात्रा से बिशन नारायण दर का धर्म भ्रष्ट हो गया है। मसनवी के कुछ शे'र देखिए:

सरशार नियाज़ कैशो-ख़स्ता[1] करता है ये अर्ज़ दस्त बस्ता[2]
लिल्लाह निफ़ाक़[3] को करो दूर सब लिखे पढ़े हों चश्मेबद्दूर
माता के धरम के पासबां[4] हों बेधरमी के भी तो राज़दां हो
छुप-छुप के होटलों में जाना कटलेट, विस्की, पुडिंग उड़ाना
और रंडियों का वो मेल वो साथ कहना गालों पे फेर कर हाथ
गोरे हाथों से बी अली जान मैं सदके मुझे बना दो इक पान
बेखौफ़ गिलौरी ले ले के खानी है खूब मज़े का पान जानी
और उनका हँसके ये सुनाना हिंदुए क्या जाने पान खाना
ये देखी हुई हैं सूरतें सब हमसे न धरम की लो बहुत अब

सरशार के मित्र-वर्ग में अधिकांश शिक्षित और उदार विचारों वाले व्यक्ति थे। देश में पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ सुधारवादी आंदोलनों का प्रभाव भी बहुत तेज़ी के साथ बढ़ रहा था। बुद्धिवाद और मानव-मैत्री की कल्पनाएँ मध्यवर्ग के भीतर एक नयी मानसिक जागृति को जन्म दे रही थीं। सरशार पुराने सामंतीय समाज का प्रतिबिंबन करने के बावजूद भविष्य की ओर देख रहे थे। अपने अधिसंख्य लेखों और उपन्यासों में उन्होंने घिसे-पिटे रीति-रिवाज, संदेहवादिता, संकीर्णता और अशिक्षा के विरुद्ध आवाज़ उठायी। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता, स्त्रियों की शिक्षा और धार्मिक सद्भाव के पक्षधर थे और जातीय विकास के लिए इसे ज़रूरी समझते थे।

जैसा कि ज़िक्र आ चुका है सरशार १८९३ ई. में 'अवध अख़बार' के सम्पादकीय दायित्व से मुक्त हो चुके थे। इससे मुक्त होने के कारण क्या थे ? इसका विस्तृत

---

१. प्रार्थना करने वाला दरिद्र व्यक्ति २. करबद्ध ३. फूट ४. रक्षक

विवरण नहीं मिलता। कई दोस्तों के प्रयास और आग्रह से १८९४ ई० में इलाहबाद हाई कोर्ट में अनुवादक होकर चले गये। लेकिन वह जिस निश्चिंतता, फक्कड़पन और बेपरवाई से जीवन व्यतीत करते आये थे, इसकी वजह से सरकारी नौकरी के बंधन में जकड़े रहना उनके लिए संभव न था। इसलिए कुछ ही अर्से बाद उन्होंने इस नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और लखनऊ चले आये।

गुज़र-बसर के लिए उन्हें कुछ करना था और इसके लिए उन्होंने लेखन को ही आजीविका का साधन बनाया। 'ख़्मकदा-ए-सरशार' शीर्षक से उन्होंने क्रमवार कई छोटे-बड़े उपन्यास लिखे। 'कामिनी' पहले ही छप चुका था। 'कड़क धम', 'बिछड़ी दुलहन,' 'पी कहाँ', 'हुश्शू' और 'तूफ़ाने बेतमीज़ी' पाँच लघु उपन्यास इस सिलसिले के तहत प्रकाशित हुए। ये कृतियां डॉ. सी.सी. घोष ने जुबली प्रिंटिंग वर्क्स, लखनऊ से प्रकाशित की। इनमें अधिकांश उपन्यास कला की दृष्टि से कमज़ोर और बेजान हैं और साफ़ पता चलता है कि सरशार ने ये क़िस्से जल्दबाज़ी से बग़ैर किसी गम्भीर चिंतन के केवल पैसा कमाने के उद्देश्य से लिखे हैं। 'चकबस्त' के अनुसार "ये उपन्यास इस तथ्य की साक्ष्य देते हैं कि एक बड़े रचनाकार की कला का इतना अधिक पतन हो सकता है।"

वास्तव में सरशार की कल्पना लखनऊ की पुरानी संस्कृति में रंगी हुई थी। वे इसके हर पहलू के मर्मज्ञ थे। और इसके चित्रण पर बड़ा अधिकार रखते थे। लेकिन जब वह इस परिधि से बाहर क़दम रखते हैं तो उनकी क़लम बेजान-सी हो जाती है। दूसरे, उनका निजी जीवन-व्यवहार और अनुभव ऐसा था और स्वभाव ऐसा बन गया था कि लेखन-कार्य में ज़्यादा मेहनत और तेज़ी नहीं दिखा पाते थे। सरशार के एक मित्र पंडित लक्ष्मीनारायण दर थे। उनके पोते पंडित तेजनारायण दर ने सरशार के बारे में अपने बुजुर्गों से जो कुछ सुना था, इसकी प्रतिक्रिया उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त की है:[१]

> "उनका रोज़ का नियम था कि ग्यारह बजे उठते ..... नहाते। एक बजे खाना वग़ैरह खाकर फिर सो जाते। इसके बाद चार बजे उठते। दोस्त-अहबाब आते। उनसे हास-परिहास होता। सात बजे रात तक यही सिलसिला जारी रहता था। सात बजे के बाद शराब का दौर चलता था जो दो घंटे जारी रहता। नौ बजे के क़रीब आप पर सुरूर आता था। इसके बाद दोस्त-अहबाब सब विदा हो जाते और कमरे के तमाम दरवाज़े बंद कर दिये जाते थे। सिर्फ़ सरशार रह जाते थे और उनका नौकर गंगादीन .... मेरे दादा कहा करते

---

१. प्रेमपाल अश्क़ ने अपनी पुस्तक में बैजनाथ दर का यह कथन उद्धृत किया है।

थे कि पत्थर के स्लेब की बनी इस मेज़ पर सरशार ने अपनी रचनाओं को जन्म दिया है। इस मेज़ की बाईं तरफ शराब के बोतल और गिलास होते थे और दाईं तरफ पूरे साइज़ के तीन चार दस्ते कागज़, क़लम और दवात साथ रख दिये जाते थे। इन कागज़ों के बीच में से दो हिस्से कर दिये जाते थे जिनसे संख्या दुगुनी हो जाती थी। गंगादीन सेवा के लिए हाज़िर रहता था। जो शराब के जाम भर-भर के दिये जाता और सरशार की क़लम चलती रहती थी। आखिरकार आप इन तमाम कागज़ों को लिखकर सोते थे . . .

जो कागज़ ख़त्म हो जाते तो लिखना बंद कर देते थे, चाहे ये दो बजे खत्म हों या तीन बजे। सुबह पाँच बजे नवल किशोर के यहाँ से आदमी आता और तमाम कागज़ समेटकर ले जाता था।"

'अवध अख़बार' और नवल किशोर प्रेस से अलग होने के बाद सरशार घोर आर्थिक कठिनाइयों में घिर गये। शराब की अधिकता ने उनकी क्षमता और कल्पनाशीलता को भारी क्षति पहुँचाई। हालाँकि वे पचास वर्ष के भी नहीं हुए थे, लापरवाही ने उन्हें शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से खोखला कर दिया था।

१८९५ ई. में मद्रास में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सरशार भी इसमें एक प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुए। वापसी पर वह हैदराबाद गये जो उस ज़माने में उर्दू भाषा और साहित्य का केन्द्र बनता जा रहा था। वहाँ महाराजा किशनप्रसाद लेखकों और शायरों के सबसे बड़े संरक्षक थे। सरशार ने 'कश्मीर प्रकाश' के मार्च, १८९९ अंक में अपनी इस यात्रा का वर्णन इन शब्दों में किया है :

"चार बरस का ज़माना हुआ कि मैं कांग्रेस का मेंबर होकर मद्रास गया था। वहां से क़िस्मत हैदराबाद ले आयी। यहां के हिंदू-मुसलमान अमीरों और जनता ने मेरी बड़ी ख़ातिर की . . . . महाराजा किशन प्रसाद बहादुर वज़ीर फ़ौजे आसफ़ी ने, जो प्रधानमंत्री भी रह चुके थे, मुझे बुलाया और दो सौ का नौकर रख लिया और शे'रो-सुखन व गद्य का मुझसे संशोधन कराने लगे और किसी काम पर खुश हुए तो एक अशर्फ़ी इनाम . . . . शाही ज़ोड़े साल में तीन-चार दिये जाते . . . . हुज़ुर निज़ाम मुझे पहले से जानते थे। जिस रोज़ पहली बार मैने नज़्र पेश की और किताबें भी नज़्र के रूप में भेंट की तो हुज़ूर ने मुझे इतना सम्मान दिया कि भरे दरबार में पूरे एक घंटे तक उपन्यास 'सैर कोहसार' पढ़ते रहे . . . . मेरा नाम सम्मानित दरबारियों में लिख लिया गया। अब मेरे मंसब की कोशिश हो रही है।"

हैदराबाद में सरशार ने महाराजा किशन प्रसाद के संरक्षणं में एक साहित्यिक पत्रिका 'दबदबा-ए-आसफ़्री' भी निकाली थी जो अत्यंत नयनाभिराम रूप में प्रकाशित होती थी। सरशार भी समय-समय पर इसमें लेख लिखते थे। लेकिन हैदराबाद में सरशार का जीवन एक तरह से कष्ट में ही बीता। 'चकबस्त' ने लिखा है कि "आख़िरी ज़माने में हैदराबाद में महाराजा किशन प्रसाद ने उनकी लापरवाही से नाराज़ होकर अपनी उदारता में कमी कर दी। हैदराबाद में उन्होंने एक उपन्यास 'गोरे ग़रीबाँ' के नाम से लिखा जो प्रकाशित नहीं हुआ। अब उनकी रचनाओं में पहले जैसी शक्ति, ताज़गी और संवेदना की तीव्रता नहीं रही थी।" पंडित आनंद नारायण मुल्ला अपने एक लेख में लिखते हैं कि "इस ह्रास का कारण बहुत कुछ सरशार की लापरवाहियाँ थी। बचपन से ही शराब की लत पड़ गयी थी जो अंतिम समय तक बनी रही। लगभग मरते दम सिरहाने शराब की बोतलें दवा की शीशियों से ज़्यादा थी।"

महाराजा किशन प्रसाद की नाराज़ी के कारण सरशार लखनऊ वापस आ गये थे लेकिन कुछ ही दिनों के बाद उन्हें फिर बुला लिया गया। अब उनका स्वास्थ्य अत्यधिक बिगड़ चुका था। मियादी बुख़ार ने अंत में उन्हें बिल्कुल खोखला कर दिया था। फिर अपने वतन से दूरी और एकांत का शाप। अंततः २७ जनवरी, १९०२ ई. को उर्दू के इस महान साहित्यकार का हैदराबाद में निधन हुआ।

सरशार : एक रचनाकार

सरशार की प्रतिभा में एक बड़े रचनाकार की सम्भावनाएँ विद्यमान थीं। बुद्धि की तीक्ष्णता (wit) और विनोदशीलता (humour) उनके स्वभाव के मुख्य गुण थे। उनके पास सामाजिक परिस्थिति को देखने की गहन अंतर्दृष्टि थी। धारणा-शक्ति ऐसी थी कि उर्दू और फ़ारसी के हज़ारों शे'र ज़बान की नोक पर रहते थे। सरशार के जीवन-वृत्त से स्पष्ट होता है कि वे एक व्यावहारिक आदमी नहीं थे। आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन हमेशा अविश्वास और संदेहों के बीच घिरा रहा है। सांसारिक यश और धन-दौलत प्राप्त करने के प्रयासों से भी वे दूर रहे। उनकी प्रकृति में एक तरह से विरक्ति या आत्म-संयम (Stoicism) की भावना विद्यमान थी। उनकी रचनाओं से उनका जो व्यक्तित्व उभरता है उससे भी यही स्पष्ट होता है कि वह अपने हाल में मस्त रहते थे। दुनिया की चिंताओं से उदासीन अपने विचारों की गहराइयों में डूबे हुए। लेकिन वह आत्मकेन्द्रित या व्यक्तिवादी नहीं थे, इसके विपरीत आसपास के सामाजिक परिवेश से उनका गहरा जुड़ाव था।

अफ़सोस इस बात का है कि सरशार के बचपन और उनके पारिवारिक परिवेश के विस्तृत ब्यौरे नहीं मिलते हैं। चार वर्ष की अवस्था में पिता का साया सिर से उठ जाने के कारण उनके अनाथ होने के एहसास ने निश्चित रूप से उनके मानसिक विकास पर बुरा असर डाला होगा। होना तो यह चाहिए था कि घर में बड़े होने के नाते वे अधिक परिश्रम, गम्भीरता और ज़िम्मेदारी के साथ शिक्षा प्राप्त करते। लेकिन (जैसा कि ज़िक्र हो चुका है) स्कूल और औपचारिक शिक्षा में उनका जी नहीं लगता था। उसकी पाबंदियों से वह दुःखी रहते थे। इसके विपरीत इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि उर्दू-फ़ारसी शे'रो-अदब में उनकी गहरी दिलचस्पी थी और इससे ज़्यादा आसपास के जीवन, उसकी चहल-पहल, भीड़-भाड़ और सार्वजनिक जलसों और मेलों को देखने का शौक़ था।

उत्तर भारत में हिंदू-मुसलमानों के मेल-जोल और परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने के कारण जिस साझी संस्कृति ने जन्म लिया था, इसके उत्कर्ष के श्रेष्ठतम रूप को हम उस दौर की लखनऊ की संस्कृति में देख सकते हैं। सांस्कृतिक मेल-जोल से अस्तित्व में आने वाले ये सुंदर दृश्य केवल विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि जन-साधारण के जीवन में भी ये रच-बस गये थे, उनके रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा

बन चुके थे। लखनऊ में हिंदू मुसलमानों की आबादी के अनुपात में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। अक्सर पुराने मोहल्लों में मिली-जुली आबादी थी। नवाबी युग में हिंदू-मुसलमानों के रहन-सहन, वेशभूषा, शिष्टाचार और सामाजिक व्यवहार ऐसे थे कि उनमें फ़र्क़ करना मुश्किल था। हिंदू मुसलमान आमतौर से अंगरखे पहनते थे जिसने आगे चलकर अचकन और कई इलाकों में शेरवानी का रूप अख्तियार कर लिया। सरशार बचपन से ही इस संस्कृति में रंगे हुए थे। आम मुसलमानों की तरह वह तंग मोरी का पाजामा, अचकन और तुर्की टोपी पहनते थे। तुर्की टोपी बिना फुँदने की होती थी। इस मिली-जुली संस्कृति के गहरे प्रभाव और इसमें सरशार के व्यक्तित्व के रचाव का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि उनकी रचनाओं में, उनके युग के आम रुझान के विपरीत, धार्मिक प्रचारवाद, धार्मिक अंधानुकरण और मताग्रह की झलक नहीं मिलती। यह कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वे उर्दू के पहले साहित्यकार हैं जिन्होंने एक सुथरे धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण से जीवन को देखा और प्रस्तुत किया। सर अब्दुल क़ादिर का यह विचार उचित ही है कि उनकी रचनाओं में, सिवाय उनके नाम के कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिससे यह साबित हो सके कि ये एक हिंदू साहित्यकार की सोच का परिणाम है।

सरशार के युग में लखनऊ के वातावरण में शे'रो-शायरी रची हुई थी। शायरों की भरमार थी। हर गली-कूचे में मुशायरे होते थे और हर व्यक्ति चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, शायरी के आस्वाद की रुचि ज़रूर रखता था। इस दौर के उस्ताद शायरों में मुज़फ़्फ़र अली खाँ 'असीर' और आफ़ताब उद्दौला 'क़लक़' के नाम उल्लेखनीय हैं। सरशार के साहित्यिक जीवन की शुरूआत भी शे'र गोई से हुई। उस्ताद की हैसियत से उन्होंने 'असीर' को चुना। 'फ़साना-ए-आज़ाद' में लखनऊ के काव्य मर्मज्ञों का ज़िक्र करते हुए अपने उस्ताद 'असीर' के बारे में लिखते हैं :

> "शायर भी बाकमाल हैं। तदबीरुद्दौला मुंशी मुज़फ़्फ़र अली खाँ असीर लखनवी, शायरी के विविध रूपों के पारखी, काव्य-शास्त्र के ज्ञाता, स्वाभिमानी शायर, रचनाकार और अवाम के बीच में मलकुश्शुअरा (राजकवि) के रूप में जाने जाते हैं। अगले शायरों में अब तो यही बच रहे हैं . . . . बूढ़े हो गये हैं मगर तबीयत जवान है। एक-एक शे'र से शायरी का सच्चा लुत्फ़ टपकता है।"

सरशार अपनी बेपरवाई के कारण अपनी रचनाएँ सुरक्षित नहीं रख सके, जो भी

प्राप्त हो सकी हैं, उनसे अनुमान होता है कि वह ग़ज़लगोई में अपने उस्ताद के रिवायती रंग से बहुत कम बचाव कर सके हैं। भाषा की तरलता, मुहावरे की मिठास, भावों की संगीनी और शिल्प सौंदर्य जो लखनऊ के पतनशील युग की शायरी की मुख्य विशेषताएँ थीं, उनकी शायरी में भी विद्यमान हैं। कुछ शे'र देखिए :

हाल सब मेरी सख़्त जानी का
बाढ़ कहती है मुड़ के ख़ंजर से

* *

पैच दर पैच दे रहे हैं वो
गैसुओं की ख़ता नहीं मालूम

* *

क्या क़हर है कि मुफ़्त में बुलबुल तू क़ैद हो
गुलचीं जो फूल तोड़े उसे कुछ सज़ा न हो

* *

घटा काली-काली धनक लाल-लाल
कन्हैया के अबरू पे जैसे गुलाल

* *

न मैं आतिश न मैं सीमाब या रब क्या सबब इसका
जहाँ तक दिल मिलाता हूँ जुदाई होती जाती है

इन शे'रों में विचारों और कल्पना की कोई ख़ास नवीनता नहीं है। लेकिन भाषा और उक्ति पर शायर की असाधारण पकड़ का अहसास ज़रूर होता है।

सरशार ने अपने मित्र बिशन नारायण दर की यूरोप की वापसी पर एक स्वागत-कविता लिखी थी जिसका ज़िक्र पिछले अध्याय में आ चुका है। इसके अतिरिक्त १८९४ ई० में जब लखनऊ में कश्मीरी कान्फ्रेंस हुई तो उन्होंने एक क़सीदा भी लिखा जिसमें कश्मीर के मनीषियों, विद्वानों और समाज-सुधारकों को श्रद्धांजलि प्रस्तुत की गयी है। इसी ज़मीन में एक फ़ारसी का क़सीदा भी मिलता है। सरशार की उपलब्ध काव्य-रचनाओं से उनकी वह सर्जनात्मक क्षमता उजागर नहीं होती जोकि उनकी कुछ गद्य-कृतियों में दिखाई देती है।

सरशार से पहले उर्दू गद्य के क्षेत्र में दास्तानों की प्रमुखता थी। 'बाग़ो बहार', 'आरायशे महफ़िल', 'तोता कहानी' और 'तिलिस्मे होशरुबा' के अतिरिक्त लखनऊ में रजब अली बेग सुरूर की 'फ़साना-ए-अजायब' और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी दास्तानें थी जो सुरुचिसंपन्न लोगों के बीच पर्याप्त ख्याति पा चुकी थी। कल्पना की उड़ान, वर्णन-शैली की उन्मुक्तता और सजावट इन दास्तानों की ख़ासियत थी। अप्राकृतिक घटनाओं और समाजी माहौल के ब्योरों के सहारे किस्से को तूल देना और रोचक बनाना इन किस्सों का चमत्कार था। उनके नायक-नायिका और दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्र प्रतीकात्मक अर्थ रखते थे। लखनऊ में इन दास्तानों में 'फ़साना-ए-अजायब' को इसलिए ज़्यादा महत्त्व दिया गया था कि इसमें नवाबी युग के लखनऊ का बड़ी खूबी के साथ चित्रण किया गया था। दूसरा कारण यह था कि इसकी परिष्कृत भाषा और सुसज्जित वर्णन शैली में लखनऊ के विशिष्ट काव्य-संस्कारों की प्रतिछवि देखी जा सकती थी। इसकी सजी-सँवरी हुई एक-एक पंक्ति में लखनऊ की शायरी का चटख़ारा महसूस होता था।

तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का यह वह वातावरण था जिसमें सरशार की रचना-यात्रा आरंभ हुई। उनकी पहली महत्त्वपूर्ण कृति 'फ़साना-ए-आज़ाद' है।

'चकबस्त' ने लिखा है कि १८७८ ई० में जब सरशार खीरी से लखनऊ वापस आये तो मुंशी नवलकिशोर ने उन्हें 'अवध अख़बार' का संपादन कार्य देखने की पेशकश की, जिसे सरशार ने स्वीकार कर लिया। इसी ज़माने में मित्रों की एक अनौपचारिक और आत्मीय गोष्ठी में पंडित त्रिभुवन नाथ हिज्र ने कहा कि "अगर कोई उपन्यास ऐसा है कि जिसका एक सफ़ा पढ़िए और मुमकिन नहीं कि बीस मर्तबा न हँसिए तो वह 'डॉन क्विक्जोट' (Don Quixote) है, अगर उर्दू में इस तर्ज का फ़साना लिखा जाय तो खूब है।" सरशार भी इस गोष्ठी में थे। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया और इस तरह उन्हें अपने सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'फ़साना-ए-आज़ाद' लिखने की प्रेरणा मिली। उन्होंने सर्वंटीज (Cervantes) के 'डॉन क्विक्जोट' के अंदाज़ पर ही अपनी इस कथा को ढाला। बाद में उन्होंने 'डॉन क्विक्जोट' का उर्दू अनुवाद 'खुदाई फ़ौजदार' के नाम से किया। स्पेनी कथाकार सर्वंटीज ने अपनी कहानी में यूरोप के ह्रासोन्मुख सामंतीय समाज, उसके बाँकों (Knights) की दुस्साहसिकता और उसकी सामाजिक संस्थाओं का उपहास किया है। सरशार ने भी इस उपन्यास में लखनऊ की खोखली मरणासन्न संस्कृति और उसके रंगारंग परिदृश्य को अपना विषय बनाया है।

यह उपन्यास पहले 'अवध अख़बार' में धारावाहिक रूप से छपा और फिर १८८० ई. में चार खंडों और कमोबेश साढ़े तीन हज़ार पृष्ठों में नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसमें दास्तानों का काल्पनिक संसार तो नहीं है, लेकिन वास्तविक संसार को कल्पना और अतिशयोक्ति के रंगों से आकर्षक और रंगीन बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसकी मूलभूत विशेषता लखनऊ की ह्रासोन्मुख संस्कृति का जीवंत चित्रण है। जिस संस्कृति ने सरशार का मानसिक गठन किया था उसने अपनी गरिमा के लिए सरशार को चुना और सरशार ने इस महत् दायित्व को बड़ी गंभीरता और निष्ठा के साथ निभाया। इसकी दूसरी विशेषता ख़ोजी जैसे अविनाशी पात्रों की सृष्टि है। जो निःसंदेह उर्दू कथा साहित्य का सबसे सशक्त, रोचक और सदाबहार पात्र है। क्योंकि सरशार की रचनात्मक क्षमताओं की भरपूर अभिव्यक्ति इसी उपन्यास में हुई है और यह उनका शाहकार है इसलिए इसका सविस्तार उल्लेख अगले अध्याय में किया जायेगा।

सरशार का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'जामे सरशार' है जो १८८७ ई. लखनऊ से प्रकाशित हुआ। यही उपन्यास 'फ़साना-ए-जदीद' शीर्षक से 'अवध अख़बार' में क़िस्तबार प्रकाशित हो चुका था। इसका विषय लखनऊ के नवाबों का जीवन है। कला की अपेक्षाओं की दृष्टि से यह 'फ़साना-ए-आज़ाद' से इसलिए भिन्न है कि इसका कथानक ज़्यादा क्रमबद्ध और संतुलित है, इसमें एक ऐसी आवयविक एकता है जो सरशार के दूसरे उपन्यासों में दिखाई नहीं देती।

एक अल्पायु नवाब अमीन उद्दीन हैदर इसके नायक हैं। पिता की संपत्ति को भोग-विलास में बेहिचक लुटाते रहते हैं। उनके दोस्त सेठ गूजरमल भी लखनऊ के बिगड़े हुए रईसों की तरह विलासिता के प्रतिमान हैं। चापलूस और ओछे मुसाहिब उनकी सहजता ओर आत्म-प्रशंसा की भावना का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। पहले वह बम्बई की यहूदिनों पर आशिक़ होते हैं। फिर फ़र्ख़ंदा पर जान लेते हैं। अंत में ज़हूरन और मिस लिली पर मुग्ध हो जाते हैं। और यही दोनों नवाब की तबाही का कारण बनती हैं। उनके मुसाहिब झम्मन और तुराब अली बचपन से ही शराब नोशी का शौक़ लगा देते हैं और वह शराब के बेदाम गुलाम बन जाते हैं।

सरशार ने ज़हूरन के चरित्र को उपन्यास में विशेष महत्त्व दिया है और वह इस कथा में केन्द्रीय भूमिका प्राप्त कर लेती है। वह नवाब के महल में एक मामूली नौकरानी है। लेकिन अपनी चंचल अदाओं, चुस्ती और हाज़िर जवाबी से नवाब को अपने जाल में फँसाना चाहती है। अभी उनके प्रेम-प्रसंग का शुभारंभ ही हुआ था कि नवाब अपने

पिता से लड़कर घर से चले जाते हैं और नुसरत उद्दौला के बाग में एक बाज़ारी हसीना फ़र्खंदा के प्रेम-पाश में फँस जाते हैं। ज़हूरन इस पर तिलमिलाती है। एक दिन जब वह बनठन कर पालकी में नवाब के पास जाती है तो नवाब उसकी जान लेवा अदाओं पर मोहित हो जाते हैं। और एक दिन उससे निकाह करके हूरलका महल के नाम से अपने महलसरा में डाल देते हैं। कुछ दिन बाद वह एक अंग्रेज़ सुंदरी मिस लिली को दिल दे बैठते हैं जो दरअसल उनके दोस्त सेठ गूजरमल की चहेती थी। नवाब उसे अपनी रखैल बना लेते हैं। ज़हूरन उन्हें इस कामुकता से उबारने की कोशिश करती है। लेकिन सफल नहीं होती। वह नवाब से उनकी इस निष्ठुरता का बहुत भयानक प्रतिशोध लेती है। नवाब के महल से निकलकर वह तवायफ़ बनकर कोठे पर जा बैठती है। नवाब की निकाही बीवी और एक तवायफ़ ! उनकी पारिवारिक प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है। वह नवाब से कहती है :

> "हमारी उठती जवानी और जोबन को खुदा सलामत रखे। तुम-से सत्तर हमारी खुशामद करेंगे। तुम हमको छोड़ दोगे तो हम भी तुम ऐसे तीन सौ साठ को छोड़ देंगे। यह डर होगा वर की जुरुआ को। हमसे नहीं सहा जायेगा कि हमारी छाती पर कोई कोदों दले।"

नवाब इस ग्लानि और सदमे को सहन करने की शक्ति नहीं बटोर पाते और गुस्से में उसे क़त्ल कर देते हैं और कुएँ में कूदकर स्वयं भी आत्महत्या कर लेते हैं।

सरशार ने इस उपन्यास में नवाबों और अमीरों की नैतिक पराजय और पस्ती को लक्ष्य बनाया है। नवाब और ज़हूरन इस उपन्यास में नायक-नायिका की हैसियत रखते हैं। हालाँकि दोनों में नायकत्व के कोई गुण नहीं हैं। दोनों नैतिक और मानवीय दृष्टिकोण से पस्त और गिरी हुई मानसिकता रखते हैं। दोनों अपनी कामवासनाओं और तुच्छ भावनाओं की संतुष्टि के इच्छुक रहते हैं। दोनों के भीतर मनुष्यता और संस्कृति के मूल्यों की कोई कल्पना नहीं है। नवाब अपनी विलासिता के लिए अपने पिता और अपनी वफ़ादार बेगम की परवा नहीं करते यहां तक कि अपने आत्मीय मित्र की प्रेमिका को भी अपनी रखैल बना लेते हैं।

सरशार का तीसरा महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'सैर कोहसार' है जो दो खंडो में १८९० ई. प्रकाशित हुआ। तकनीक और वर्णनशैली की दृष्टि से इसे खलाख्यान (Picaresque) कहा जा सकता है। इसमें भी लखनऊ के परिवेश के विभिन्न वर्गों और पेशों से जुड़े हुए लोगों की जीवन-झांकी प्रस्तुत की गयी है। 'फ़साना-ए-आज़ाद' के ख़ोजी की तरह

इसमें भी महाराज बली नामक एक हास्य-चरित्र है जो उर्दू के सफल हास्य-चरित्रों में विशिष्ट हैसियत रखता है।

नवाब मोहम्मद असकरी उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है। वह अपने मुसाहिब और दोस्तों के साथ, जिनमें महाराज बली भी हैं, पहाड़ पर गर्मियाँ बिताने की योजना बनाते हैं। इस बीच में एक सुंदर मनिहारन कमरुन उनका दिल जीत लेती है। इसे पहली बार वह अपनी साली के घर एक उत्सव में देखते हैं, जहाँ वह चूड़ियाँ पहनाने जाती है।

नवाब इसे हर कीमत में हासिल करना चाहते है। अंततः वह उसे और उसकी बड़ी बहन नाज़ो को लेकर नैनीताल की सैर को जाते हैं और वहाँ अपनी प्रेम-भावना को व्यक्त करते हैं। वापसी पर वह कमरुन को एक अलहदा मकान में रखते हैं और उसके पति क़ादिर से उसे तलाक़ दिलवा देते हैं। लेकिन कमरुन निचले वर्ग की एक अल्हड़, हीनबुद्धि और कामवासना की दृष्टि से असंतुष्ट युवती है। वह एक बर्फरोश फज़्ले के साथ फ़रार हो जाती है और जब फज़्ले उसके यौन-सुख से तृप्त हो जाता है तो उसे छोड़ देता है। वह तपेदिक की मरीज़ होकर फिर नवाब के पास लौट आती है। नवाब उसे शरण देते हैं लेकिन वह ज़्यादा अर्से तक जिंदा नहीं रहती। इसकी मृत्यु के साथ ही उपन्यास समाप्त हो जाता है।

इस उपन्यास का कथानक तो बेजान है लेकिन इसमें महाराज बली और कमरुन के चरित्रों को निजी वैशिष्ट्य प्रदान करने में सरशार की रचनात्मक क्षमताएँ पूरी तरह उजागर हो जाती हैं।

महाराज बली लखनऊ के एक रईस और म्युनिसिपल कमिश्नर हैं। वह नवाबों की तरह आन-बान से ज़िंदगी गुज़ारना चाहते हैं। सम्पन्न, प्रतिष्ठित, मिलनसार और आकर्षक व्यक्तित्व वाले आदमी हैं। लेकिन बकौल सरशार 'अजीब गोल आदमी हैं।' नवाबों की तरह नेकदिल और सहज व्यक्ति हैं। मुसाहब लोग उन्हें भी तारीफ़ करके ठगते रहते हैं। सरशार ने उनकी कुछ कमज़ोरियों से हास्य पैदा किया है। दौलत की प्रचुरता होने के बावजूद वह पैसे पर जान देते हैं। अपनी प्रेमिका नाज़ो पर जान न्योछावर करते हैं लेकिन उसके लिए उनके हाथ से एक पैसा नहीं निकलता। इस कृपणता के लिए नाज़ो उनकी दुर्गति बनाती है और चाँद सहलाती है। उनकी दूसरी कमज़ोरी फ़ारसी बोलने की सनक है। अपनी बीवी और म्युनिसिपैलिटी के कर्मचारियों से भी वह फ़ारसी में बात करके उन पर रोब जमाने की कोशिश करते हैं। लेकिन हमेशा ग़लत और बेतुकी फ़ारसी बोलते हैं। उनकी अंतिम कमज़ोरी उनकी बीवी है। जिससे वह भयभीत रहते हैं। इन्हीं कमज़ोरियों के माध्यम से सरशार ने हास्य-व्यंग्य की तासीर

पैदा करने की कोशिश की है। उनकी आयु साठ वर्ष की है लेकिन बीस-इक्कीस वर्ष की नाज़ो से युवाओं की तरह प्रेम करते हैं। वह उससे याचना करते हैं कि वह उन्हें एक रुपया प्रति चुम्बन के हिसाब से चुम्बन दे। लेकिन जब वह इसकी माँग रखती है तो टाल जाते हैं। ख़ोजी की तरह उनका हास्य-पूर्ण व्यक्ति-चित्र (Caricature) पेश नहीं किया गया है। उसके चरित्र में वास्तविकता की आँच है। वह लखनऊ के हिन्दू अमीरों के चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। जो नवाबों के रहन-सहन का अनुकरण करते थे। और उन्हीं की भाँति ऐशपरस्ती की ज़िंदगी बसर करने के सपने देखते थे।

कमरुन निचले वर्ग की एक भोली-भाली और अल्हड़ लड़की है। उसकी अनुभवी माँ और बहन नाज़ो उसे नवाब को मुग्ध करने की युक्तियाँ सुझाती हैं। चतुरता की शिक्षा देती हैं लेकिन उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी मामूली इच्छाओं और काम-वासना की तृप्ति के लिए व्यग्र रहती है। वह नवाब की हवेली में रहते हुए गंडेरियों वाले और फालूदे वाले की आवाज़ पर दौड़ पड़ती है। नौकरों और स्वयं नवाब से अभद्र और असभ्य भाषा में बात करती है। उसे नवाब अस्करी के अतिशय प्रेम, अपनत्व और मूल्यवान उपहार देने से हर्ष की वह अनुभूति नहीं होती जो ललितवा तंबोली और फ़ज़्ले बर्फ़ वाले की लगावट की बातों से प्राप्त होती है। अंततः वह महल की सुख-सुविधाओं को तजकर नौजवान फ़ज़्ले के साथ फ़रार हो जाती है। डॉ. सैयद लतीफ़ हुसैन कमरुन के चरित्र का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं :

> "वह वेश्या का रंग अख़्तियार करते हुए भी वेश्या नहीं है। नासमझी और भोलापन उसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है। उसके लिए कोई घटना और कोई वाक्य महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह एक बच्चे की तरह मचलना और ज़िद करना जानती है। वह हर रंगीन चीज़ की तरफ़ बच्चे की तरह दौड़ती है। चाहे वह अंगारा ही क्यों न हो लाल समझ कर पकड़ लेती है। वह मामूली से मामूली चीज़ों से अपना मन बहला लेती है और फिर एक बच्चे की तरह खिलौनों से खेलकर भुला देती है . . . . उसका मन उमंगों से आपूरित है . . . . उसके मन में उन तमाम भावनाओं का अंतर्द्वन्द्व चलता रहता है जो 'सम्मान' के कारण उसके अवचेतन में दबकर रह गयी हैं।"

अली अब्बास हुसैनी ने भी उसकी चारित्रिक विशेषताओं की चर्चा करते हुए सही कहा है कि "सरशार का कमाल यह है कि उनकी निगाह इस चरित्र को ढूँढ़ लेने में उस वक़्त कामयाब हुई जब मनोविज्ञान इतना अधिक विकसित नहीं हुआ था।"

सरशार का अंतिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'कामिनी' है जो १८९६ ई. में प्रकाश में आया। यह पहला उपन्यास है जिसमें सरशार ने राजपूतों के सामाजिक संस्कारों और रीति-रिवाजों का चित्रण किया है।

ठाकुर जोरबल सिंह का लड़का रणवीर सिंह जवान हुआ तो हर ओर उसके पौरुष और तेज की चर्चाएं होने लगीं। वह भी एक राजपूत कन्या कामिनी के सौन्दर्य की चर्चा सुनता है और उसका चित्र देखकर मोहित हो जाता है। दोनों परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं। लेकिन विवाह के कुछ ही दिन बाद रणवीर सिंह एक युद्ध में शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान से बाहर चला जाता है। एक मुद्दत तक उसका कोई समाचार नहीं मिलता। लोग उसकी मौत की अफ़वाहें उड़ाते हैं और कामिनी को दूसरा विवाह करने की प्रेरणा देते हैं लेकिन उसके कदम नहीं डगमगाते। उसे अपने प्रेम पर विश्वास है। वह अपने पति की स्मृति और प्रतीक्षा में समय व्यतीत करती है। उसकी यह तपस्या सफल होती है और एक दिन रणवीर सिंह युद्ध के मोर्चे से वापस आ जाता है।

उपन्यास की केन्द्रीय पात्र कामिनी है। सरशार ने इसे एक निष्ठावान पतिव्रता के रूप में प्रस्तुत किया है। इसका आदर्श चरित्र प्रेमचंद के कुछ आदर्श चरित्रों जैसे विद्या, निर्मला और गोविंदी की पूर्व भूमिका कहा जा सकता है। सरशार ने इसके चरित्र की रेखाएँ उभारने में बहुत मेहनत की है। इसके बावजूद गौरा की तुलना में इसका व्यवहार दबा-दबा और बेजान-सा है। गौरा चालीस-बयालीस साल की एक हँस-मुख औरत है। वह शहर के एक चरित्रहीन रईस सरन के प्रेम-पाश में फँस जाती है। सरन एक लम्पट युवक है। जो नित नई औरतों का शिकार करता है। लेकिन गौरा का प्रेम अस्थायी नहीं है वह पूरे मन के साथ सरन को चाहती है। वह सरन की खुशी के लिए हर तरह का त्याग करने के लिए तैयार रहती है। वह सरन के लिए नई-नई नौजवान औरतों का शिकार करती है। यहाँ तक कि उसकी हठ पर कामिनी से भी उसकी भेंट का प्रबन्ध करती है लेकिन बदले में वह धन-दौलत प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखती है। बस कुछ क्षणों का आलिंगन ही उसके हृदय को सुरभित और आलोकित कर देता है। लेकिन वह अपने पवित्र होने का दावा करती है। शायद इसलिए कि वह विवाहिता है और बड़े-बड़े घरों में उसकी आमद-रफ़्त है। सरशार कमरुन और ज़हूरन की भांति उसका चरित्र पूरी तरह उजागर नहीं कर पाते । इस तरह उपन्यास में उसके चारित्रिक विकास की संभावनाएँ बहुत कम रह जाती हैं। इसके बावजूद उपन्यास के स्त्री पात्रों में वह सबसे ज़्यादा प्राणवान और आकर्षक है।

सरशार ने राजपूतों के रीति-रिवाज और रहन-सहन का जीवन्त चित्रण किया है। इससे उपन्यास में जीवन की धारा प्रवाहित हो गयी है, संवेदना का ताप पैदा हो गया है। इससे पूर्व के उपन्यासों में सरशार ने मुस्लिम परिवेश की बारीकियों को उभारा है। लेकिन इस उपन्यास से अनुमान होता हे कि उन्होंने राजपूत घरानों के विशिष्ट वातावरण और रीति-रिवाजों का भी गहराई के साथ निरीक्षण किया था। नागपंचमी के मेले का यह दृश्य देखिए :

"धनो ठकुराइन भारी कामदानी की गुलाबी चादर ओढ़कर, हमजोलियों, सहेलियों, नाइन, महरी और बारन को लेकर सूरजकुंड गुड़िया चढ़ाने चलीं। सींक की नई रंगीन डलिएं नाइन के हाथ में थीं। इसमें कपड़े की गुड़िया बनी हुई थी। छोटा-सा किम्ख्वाब का लहँगा, गुलनार का दुपट्टा इसमें लचका और लैस टँकी हुई। डलिया में गेहूँ, चना और जौ। गुड़िया लड़कों ने पीटी। नाइन ने उनको चना और गेहूँ दिया। सूरज कुंड की मिट्टी ली और हमजोलियों ने आपस में पान और गोटा बाँटा। झूला झूलीं और तीन-तीन चार-चार मधुर कंठ वाली कोमलांगियों ने सच्ची तानें लगानी शुरू कीं।"

उपन्यास में उर्दू और फ़ारसी शे'रों के बजाय सरशार ने जगह-जगह लोकगीतों के बोल लिखे हैं। इसी तरह ब्राह्मणों की बातचीत और धार्मिक कर्मकांडों के विवरण में हिंदी शब्दों का प्रयोग किया है।

इसके बाद सरशार ने कुछ लघु उपन्यास भी लिखे हैं, जो उनकी कला के ह्रास के नमूने हैं जैसा कि पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है। इस दौर में सरशार घोर आर्थिक कठिनाइयों से गुज़र रहे थे। एक बंगाली प्रकाशक के आग्रह पर सिर्फ पारिश्रमिक की ख़ातिर उन्होंने हर महीने दो-दो किस्से लिखकर प्रकाशित कराये। इनमें सामाजिक यथार्थ से ज़्यादा काल्पनिक संसार की झलक मिलती है। पात्र भी बहुत हद तक बेजान हैं। अलबत्ता कुछ किस्सों में भाषा और मुहावरे का चटख़ारा मज़ा दे जाता है। इनमें से कुछ किस्से जैसे 'हुश्शू' और 'पी कहाँ' हिंदी में भी प्रकाशित हो चुके हैं।

आले अहमद सुरूर के कथनानुसार सरशार की कृतियों में महान चिंतकों की-सी दृष्टि की व्यापकता पाई जाती है। लेकिन यह राय उनकी आरम्भिक कृतियों पर ही सटीक बैठती है। वह लखनऊ की संस्कृति के रंगारंग पहलुओं की जीवंत प्रस्तुति में कमाल रखते हैं और इस क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। न ही कोई उनका व्याख्याकार पैदा हो सका। वह अपनी शैली के प्रवर्तक भी हैं और समापनकर्ता भी।

सर्वोत्कृष्ट कृति : फ़साना-ए-आज़ाद

विश्व साहित्य के इतिहास में इसकी मिसालें मौजूद हैं कि जब कोई संस्कृति अपने विकास के चरम-बिंदु पर पहुँच कर ह्रासोन्मुख होती है, जब उसका अस्तित्व छिन्न-भिन्न होने लगता है और उसके स्थान पर एक नयी व्यवस्था, नयी संस्कृति के अभ्युदय की प्रक्रिया शुरू होती है तो नष्ट होती हुई संस्कृति अपने ढलान के दौर में ऐसे कलाकार को जन्म देती है जो उसकी दीप्ति और आभा, उसके उत्कर्ष और अपकर्ष का द्रष्टा होता है। जिसकी कल्पना उन्मुक्त और दृष्टि व्यापक होती है। जिसका मस्तिष्क, हृदय की भाँति धड़कता और महसूस करता है जो उसकी बिखरती हुई अर्धजीवित संस्कृति को अपनी अतुलनीय अभिव्यक्ति क्षमता से सक्रिय और जीवित रूप में प्रस्तुत करता है। सर्वेंटीज, फ़ील्डिंग, गोगोल और बालज़ाक ऐसे ही कलाकार थे। उर्दू में पुरानी लखनऊ की संस्कृति को एक शाश्वत साहित्यिक रूप देने का काम सरशार ने पूरा किया। इस दृष्टि से 'फ़साना-ए-आज़ाद' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। उनकी प्रसिद्ध और यश का सारा दारोमदार दरअसल इसी उपन्यास पर है। अगर वह 'फ़साना-ए-आज़ाद' के अलावा कुछ न लिखते तब भी उर्दू साहित्य के इतिहास में ख्याति और सम्मान के अधिकारी होते।

यह उपन्यास अब से ठीक एक शताब्दी पूर्व १८८० ई. में चार बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ था। इसका कथानक निहायत मामूली और ढीला-ढाला है। जिसमें पुरानी दास्तानों का अंदाज़ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। हर कला में निष्णात एक अपराजेय नायक की गाथा इसका विषय है। उपन्यास का नायक आज़ाद एक बुद्धिमान, बाँका और सुंदर नौजवान है जो हर ज्ञान और कला में महारत रखता है। घुमक्कड़ी और आवारगी उसके स्वभाव में है। लखनऊ और उसके आस-पड़ोस की सैर करता हुआ अचानक एक दिन वह लखनऊ के सुसंस्कृत घराने की लड़की हुस्न आरा को देखता है और उसे दिलो-जान से चाहने लगता है। बार-बार की भेंटों से उसकी प्रेमाग्नि और भड़कने लगती है। वह शादी का प्रस्ताव भेज देता है। हुस्न आरा कहती है कि वह पहले दुनिया में शौर्य और पराक्रम का बड़ा काम करके दिखाये। वह शादी के लिए शर्त यह रखती है कि आज़ाद रूस के विरुद्ध मुसलमानों की तरफ़ से बल्कान के युद्ध में शामिल हो। आज़ाद यह शर्त मान लेते हैं। और अपने साथी 'ख़ोजी' के साथ बल्कान के युद्ध में मोर्चा सँभालते हैं। वहाँ वह वीरता और पराक्रम का ऐसा प्रदर्शन करते हैं कि

यूरोप की शहज़ादियाँ भी उन पर जान देने लगती हैं। एक रोमांटिक लेकिन जाँबाज़ नायक की तरह आज़ाद यूरोप की सुंदरियों के प्रेम में अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। लेकिन उनके प्रेमालाप और संयोग के क्षणों में भी वह हुस्न आरा को नहीं भुला पाते। अंततः वह इस युद्ध से विजयी होकर लौटते हैं और हुस्न आरा से शादी रचाते हैं। हुस्न आरा के अलावा लखनऊ की सुंदरी सुरैया भी आज़ाद से मन बहलाव के लिए प्रेम करती है। आज़ाद उससे मनोरंजन करते हैं लेकिन उसकी ओर आकर्षित नहीं होते। वह आज़ाद के लिए अपमानित भी होती है और हर तरह का त्याग करती है और अंत में निराश होकर एक नवाब से शादी कर लेती है।

'फ़साना-ए-आज़ाद' का यह कथानक साफ तौर पर एक घिसा-पिटा-सा किस्सा मालूम होता है। लेकिन सरशार का कमाल इस कथानक की परिधि से बाहर की रंगारंग दुनिया के मोहक चित्र खींचने में है। अपनी विशिष्ट और चित्ताकर्षक शैली में उन्होंने लखनऊ की ह्रासोन्मुख संस्कृति के जो दृश्य दिखाये हैं और उन्हें जिन ब्योरों के साथ सजाया है, उस संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के प्रतिनिधित्व के लिए जो अछूते चरित्र तराशे हैं, उनके चरित्रांकन में जो नाटकीयता और हास्य-व्यंग्य की विशेषता पैदा की है, वही इस उपन्यास की शक्ति है।

इसलिए सरशार के इस उपन्यास को खलाख्यान (Picaresque) कहा गया है। इसमें घटित होनेवाली बेशुमार घटनाएँ और दृश्य किसी तर्क पर आधारित नहीं हैं। इनकी अहमियत इस बात में है कि ये एक मिटती हुई संस्कृति का उद्घाटन करते हैं। इसके भेद खोलते हैं। सरशार के घटना-चित्रण के पीछे अगर कोई कल्पना सक्रिय है तो यही कि इसके माध्यम से वे एक संस्कृति को रचनात्मक सौंदर्य प्रदान कर रहे थे। इसके काम-काजों, मेलों, त्योहारों, रस्मोरिवाज, सभा के शिष्टाचार और सामाजिक व्यवहारों को जीवंत आकार प्रदान कर रहे थे। सैयद एहतेशाम हुसैन अपने एक लेख में लिखते हैं :

> "सरशार ने अपने 'फ़साना-ए-आज़ाद' में एक वास्तविक और अवास्तविक दुनिया का मिश्रण प्रस्तुत किया है। जिसकी सैकड़ों तस्वीरें सुंदर दृश्यों और रेखाओं की शक्ल में लगभग चार हज़ार पृष्ठों में बिखरी पड़ी हैं। जिन्हें आप अलग-अलग भी देख सकते हैं और मिलाकर भी . . . . . वह वक़्त था कि जब पुरानी दुनिया खत्म हो रही थी और नयी दुनिया जनम लेना चाहती थी। सरशार दोनों के दरम्यान खड़े हुए अपनी बौद्धिक क्षमता से दोनों पर

आलोचनात्मक दृष्टि रखे हुए थे। राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर जो तब्दीलियाँ हुई थीं, सरशार उनसे अनभिज्ञ नहीं थे। अवध का सामाजिक जीवन जिस मोड़ पर आ गया था, वह उसका एहसास रखते थे . . . . 'डॉन क्विकज़ोट' में यूरोप के एक मिटते हुए दौर पर निर्ममता के साथ कटाक्ष किया गया है। सरशार ने लखनऊ से बेहद लगाव के बावजूद उसके सामाजिक परिवेश की तीखी आलोचना की है। लखनऊ ने सामंतीय संस्कृति के पतन के दौर में मुग़ल, ईरानी और भारतीय संस्कृति के मिश्रण से जिस परिवेश की सृष्टि की थी उसके मूल्यों में एक खास तरह का खोखलापन और सतहियत थी। उसके सौंदर्य में कृत्रिमता का इतना चमत्कार था कि ज़रा-सा खुरच देने पर असलियत खुलकर सामने आ जाती थी। उसकी लचक और रंगीनी में वह रोचकता नहीं थी जो मूल्यों को गहराई और स्थायित्व प्रदान करती है। सरशार का इससे इतना गहरा जुड़ाव था कि उनके हर वाक्य और हर शब्द से इस संस्कृति की सारी खूबियाँ और ख़ामियाँ उभर आती हैं।"

लखनऊ की यह खोखली और रुग्ण जीवन-शैली केवल अमीर और नवाबों के वर्ग तक ही सीमित नहीं थी। इसके प्रभाव को जन-साधारण के दैनिक जीवन की गतिविधियों में भी देखा जा सकता है। सरशार के अधिकांश पात्र आम लोगों की पंक्ति से जुड़े हुए हैं। उनका अध्ययन वह ज़्यादा रुचि, सहानुभूति और यथार्थवादी दृष्टिकोण से करते हैं। जलसों, मेलों और त्योहारों में अवाम किस तरह हर्ष विभोर हो जाते हैं। उनकी हँसी-ठिठोल, दुख-सुख, मरना-जीना कैसा है ? सरशार इसका चित्रांकन बड़ी महारत के साथ करते हैं। यह निचले वर्ग के लोगों के प्रति उनके आत्मीय-भाव का प्रमाण है। उनके समकालीन नज़ीर अहमद, अब्दुल हलीम शरर और सज्जाद हुसैन के उपन्यासों में जीवन के इतने बहुरंगी और व्यापक आयाम प्राप्त नहीं होते। न ही उनकी रचनाओं में अवाम के जीवन का इतना गहन अवलोकन दिखाई देता है।

सरशार अपने बचपन से ही इस जीवन में रमे हुए थे, इसमें शामिल थे। 'फ़साना-ए-आज़ाद' में मानवीय जीवन का एक समुद्र है जो ठाठें लेता नज़र आता है। मुसाहिब, ज्योतिषी, फ़क़ीर, शाह जी, माँझी, तिलंगे, दारोगा, मौलवी, पंडित, शायर, गायक, बाँके, बहुरूपिए, अफ़ीमची, चंडूबाज़, भटियारिनें, साकनें, लौंडियां, खिदमतगार; कहने का अभिप्राय यह है कि लखनऊ के हर वर्ग, हर व्यवसाय, हर स्तर और हर रुचि के लोग 'फ़साना-ए-आज़ाद' में उस युग की पूरी संस्कृति को लेकर अवतरित हुए

हैं। इन्हीं के दम से इस जीवन के तमाशों में रौनक़ है। त्योहारों, मेलों, तमाशों, मुजरों और मुशायरों में गहमा-गहमी और चहल-पहल है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सरशार एक व्यापक धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण से ये दृश्य दिखाते हैं। वह हर धर्म का सम्मान करते हैं लेकिन सामाजिक यथार्थ के निरूपण में वह धर्म को नहीं जीवन, मनुष्यता और मानवीय सम्बन्धों को विश्वसनीय समझते हैं। वह यथार्थ को आत्मसात करने और उसे रचना में रूपांतरित करने की प्रक्रिया में इतने डूबे हुए होते हैं कि इसमें किसी धार्मिक भेद-भाव का अहसास तक नहीं होता।

बसंत के मेले का यह चित्र देखिए :

> लखनऊ में हर गली कूचा जाफ़रान ज़ार है। क्यों न हो आखिर वसंत की वहार है। यूं तो हर सिम्त तबले पर थाप, सारंगी की छेड़छाड़ और नग़्मासराई का इंतज़ाम है मगर मीना साहब की दरगाह सब में इंतखाब ज़ियारत गाह ख़ासो-आम है। अल्लाह अकबर गिर्द मज़ार कहीं नौजवान की वो धूम-धाम है कि जिस तरफ देखिए अज़दहाम[१] है। निमट की निमट, जूक-दर-जूक[२] चले हैं। गोल के गोल उमड़ते आते हैं। वो भीड़-भाड़, वो धक्कम मुक्का, वो रेल-पेल, वो शोरो-शर की कि अलामाउल हिज़र।[३] एक दूसरे को रेलता है, दूसरा तीसरे को ठेलता है। डोलियों पर डोलियाँ और फीनसों पर फीनसें चली आती हैं। महजबीनें माहिर और तमाशबीनों की वजह से गुलछर्रे उड़ाती हैं। क़दम भर चलना दुश्वार सिर पर ख़ाक, चेहरे पर गुबार . . . . . हूरलका ज़ोहरा जबीं शोख बेबाक चुस्तो चालाक खुशउल्हान[४] गज़लख़्वां गौहर याकूत लबे सुमन[५] गाती हैं। अजब नाज़ो अंदाज़ से खड़ी हाथ हिलाती हैं। कांधे पर धरे कमर को लोच दे रुत आई अजब वसंत-बहार की, तान उड़ा रही है। इशारों में सारे नुक्ते सिरबस्ता बता रही हैं। अर्बाब निशात[६] के रक्स और ठोकर से कलेजे पर चोट है। रक्स का वह समां बंधा कि आशिकों का दिल भी गुनगुनाने लगा।
>
> सारंगियां हाँ में हाँ मिलाने को तैयार। वाह बीवी इस खुश उल्हानी[७] के निसार . . . . . दूसरी तरफ क़व्वाल हक़ानी[८] ग़ज़लें गाते हैं, सूफ़ियों को वज्द[९] में लाते हैं। किसी अहले दिल को हाल आया, कोई आँखों में आँसू भर लाया।

---

१. भीड़-भाड़ २. जन-समूह ३. ईश्वर बचाये ४. अच्छा गानेवाली ५. चमेली जैसे होंठ वाली
६. नाचने और गानेवालियाँ ७. सुंदर गायकी ८. तत्त्व ज्ञान से सबंधित ९. आत्म-विस्मृति

हो हक़ का नारा बुलंद है। सरोद और गना[1] का लुत्फ़ दो चंद है। एक तरफ साकिनों का गर्म बाज़ार, दुकानें धुआँधार। चिलम पर चिलम भरी जाती है, दम पर दम पड़ते हैं। नातवा[2] नौजवान नशे के जोर में अजब लोच से अकड़ते हैं। वसंत ने भी अच्छा रंग जमाया है। चंडूबाजों तक को जाफ़रान बनाया है। लिबास दरकिनार जिस्म तक जाफ़रानी हैं।"

यहाँ आज़ाद और उनके दोस्तों के साथ लखनऊ के मुहर्रम की भी एक झलक देखिए :

"जिधर देखो, निराली सज-धज। मोमिन पाक मिस्ल काबा स्याह पोश[3] कोई मातमे हुसैन में सिर बरहना चला जाता है। कोई हल्का पोशाने बाहिश्त[4] की तरह हरा-हरा जोड़ा फरकाता है। हसीना ने अंबरींमू[5] और महजबीनाने क़ौस अबरू की मस्ताना चाल। मातमी पोशाक बिखरे हुए बाल। वाह वाह नाज़, वो निगाहे गलत अंदाज, वो छुप-छुप के कतरा जाना। कभी लजाना कभी मुस्कुराना। बेफ़िक्रों की सौ-सौ चकफेरियाँ। तमाशाइयों की ज़ोर आज़माइयां। आशिक दिलों की घातें, रम्ज़ो किनाया[6] की बातें। देहातिनें, गँवारिनें बिंदी लगाये फरिया फड़काये गोंद से पट्टियाँ जमाये हैरत से आपस में चे मी गोइयां[7] कर रही हैं।

अरी दीदी तनिक महका बता दे
ये कंदीलें जो लटकत हैं ये दरमां
हसीनाबाद तो फर फर है बैकुंठ
बरत है यां दिया लकरन के घर मां

लीजिए आगा बाकर के इमाम बाड़े में खट से दाखिल। ओ हो हो। खुदा की कुदरत मुजस्सिम नज़र आती है। वाह मियां बाकर क्यों न हो ? नाम कर गये। चकाचौंध का आलम है लेकिन गली तंग। तमाशियों की अक्ल दंग। खल्क़त[8] घुसपैठ कर देख ही आती है। नाक टूटे या सिर फूटे, आग़ा बाकर का इमामबाड़ा ज़रूर देखेंगे। वहाँ से तरारा भरा तो कच्चे पुल पहुँचे। देखते क्या हैं कि पीर फ़र्तूत[9] दकियानूस के हम अस्र बैठे अगले वक़्तों के लोगों को रो रहे हैं। वल्लाह लखनऊ के कुम्हार बड़े नादिरकार[10] हैं। ऐसा बुड्ढा बनाया है कि मालूम होता है कि पोपले मुँह से अब बोला और अब

---

१. राग २. कमजोर ३. काबा की भांति काले रंग की पोशाक पहने हुए ४. स्वर्गीय परियान ५. सुगंधित केशों वाली रूपसियाँ ६.भेद और संकेत ७. काना फूँसी ८. जनता ९. बहुत बूढ़ा १०. कलाकार

बोला। वही सन के से बाल, वही सफ़ेद भवें, वही चितवन, वही पेशानी की शिकन, वही हाथों की झुर्रियाँ, वहीं कमर ख़म, वही सीना झुका हुआ। वाहरे कारीगरी ! तू भी अपने फ़न में यक्ता[1] है। और तेरा बुढ़वा तो अल्लाह ही अल्लाह।

अब उनके दोस्त को शौक चर्राया कि अरबाबे निशात[2] के इमामबाड़ों की ज़ियारत करें।

पहले गौहर जान के यहाँ पहुँचे। अल्लाह-अल्लाह दिमाग़ सातवें आसमान पर है। अच्छे-अच्छे रईसज़ादे फ़ख़ के साथ मुसाहबत कर रहे हैं। एक बड़े मालदार जौहरी साहब मटकते हुए आये। दस रुपये की कारचोबी टोपी जेबे सर[3], अतलस फ़ौकुल्भड़क दगला ज़ेबे बर[4], सुनहरी लैस टंकी हुई, यह रंग जोड़ा ख़ासे मुर्ग ज़री[5] बने हुए। ख़िदमतगार के कांधे पर ज़र निगारीं दोशाला। ये वज़ा ये कता लेकिन बैठते ही टोके गये। बैठे तो ज़रीह[6] की तरफ़ पुश्त करके। साहबे खाना ने एक अजीब अदाए-दिलरुबा से झिड़क दिया, "ऐ वाह बड़े खुशतमीज़ हो। ज़रीह मुबारक की तरफ़ पुश्त की।, सीधे बैठिए आदमियत के साथ।"

जौहरी : "माज़ अल्लाह (ग़लत उच्चारण करता है) बीवी मुझे बैठ नहीं आता।"

मियां आज़ाद ने चुपके से दोस्त के कान में कहा, लाहौल। ये अपनी टीम-टाम के साथ घुड़के गये और ज़रा चीं भी न बोले। पेशानी पर शिकन तक नहीं आई।

दोस्तः भाई जान गौहरजाने लखनऊ, शाने लखनऊ, आने-बाने लखनऊ, रूह ख़ाने लखनऊ है। रग-रग में शोख़ी -

क़दो क़ामत आफ़त का टुकड़ा तमाम
क़यामत करे जिसको झुककर सलाम।

ऐसा खुश किस्मत कोई हो तो ले कि एक अर्बदा जू[7] की घुड़की सहे। हाज़िरीन अदब से गर्दन झुकाये बैठे हैं। जिसे देखो दज़्दीदा निगाह[8] से महवे नज़्ज़ाराबाज़ी है लेकिन रोबे-हुस्न से बात करके कलेजा काँपता है।"

इस दृश्य-चित्रण में सरशार ने लखनऊ के समाज की जो झलकियां दिखाई हैं। इनमें विशिष्ट से ज़्यादा सामान्य लोगों की शिरकत और उनके व्यवहार पर नज़र रखी

---

१. अद्वितीय २. नाचने गाने वालियाँ ३. सिर पर शोभायमान ४. शरीर पर शोभायमान ५. सोने की मुर्गी ६. ताजिया ७. लड़ाकू ८. चोरी-चोरी देखना

है। इसमें लखनऊ के कुम्हारों की अनुपम शिल्प-कला का उल्लेख श्रद्धा के साथ किया गया है। और ऐसे नवधनाढ्यों का उपहास किया गया है जो इस संस्कृति के शिष्टाचार से परिचित नहीं।

पाकिस्तान के एक दृष्टि-संपन्न आलोचक डॉ. तबस्सुम काश्मीरी ने अपनी पुस्तक में बड़े विस्तार के साथ इस उपन्यास के विषय और सरशार के वैचारिक सरोकारों का अध्ययन किया है। उन्होंने बताया है कि 'फ़साना-ए-आज़ाद' में सरशार ने एक ओर तो उस पुरानी दुनिया को पेश किया है जो दम तोड़ रही थी और दूसरी ओर लखनऊ और हिन्दुस्तानी समाज की दुनिया है जो नयी वैज्ञानिक शिक्षा, नयी पाश्चात्य संस्कृति के प्रगतिशील विचारों से सुसज्जित है और आज़ाद का चरित्र इसी का प्रतीक है। लेकिन वह पतन की तमाम स्थितियों के बावजूद पुराने परिवेश की रौनक़ को भी साथ-साथ दिखाता है। विद्वान आलोचक ने 'फ़साना-ए-आज़ाद' की पुरानी दुनिया का ज़िक्र करते हुए कहा है:

> "फ़साना-ए-आज़ाद' की पुरानी दुनिया के लिए वर्तमान एक शोक की भाँति है, यह अतीत के विलासिता पूर्ण जीवन का शोक है और भविष्य भी एक गहरे शोक के रूप में उसके सामने उभर रहा है। उसके लिए अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल शोकमय प्रतीत होते हैं। लेकिन यह दुनिया शोक के इन स्वरों को सुनने के लिए तैयार नहीं है। इस दुनिया की सिर्फ एक आकांक्षा है, वह है मृत अतीत के रंगदार सुख के दिनों की तस्वीरें देखना . . . . . पुरानी दुनिया के इन पात्रों को ज्ञान है कि इस दुनिया के दिन पूरे हो चुके हैं और यह ज़िंदगी कण- कण होकर बिखरनेवाली है। वे इस कल्पना से भयभीत हैं।"
>
> 'फ़साना-ए-आज़ाद' की पुरानी दुनिया ऊँघती हुई दुनिया है। इस दुनिया के जागते हुए पात्र अतीत के सपने देखते हैं और उस अतीत को वर्तमान में खींचते हैं। जब वे होश में आकर वर्तमान से आँख मिलाते हैं तो उनके बीच अजनबीयत की दीवार खड़ी हो जाती है। वे इस नयी दुनिया में प्रवेश करने के इच्छुक नहीं क्योंकि यह दुनिया उनकी पुरानी दुनिया को बहुत बड़ा सदमा पहुँचाती है। इससे बचने के लिए वे मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। नशे से इस जन-समुदाय की चेतना सुप्त हो गयी है। हर गहरी नींद में सोये-सोये लोग मिलते हैं। ये पात्र संज्ञाहीनता के शिकार हैं। भीतरी सदमे ने उन्हें आत्मपीड़ा का शिकार बना दिया है।

पुरानी दुनिया में क्रियाशीलता और शक्ति के स्रोत सूख चुके हैं। यूँ मालूम होता है कि जैसे यह समाज सांस्कृतिक स्तर पर जड़ हो चुका है। इसमें कार्य की क्षमताएँ नष्ट हो चुकी हैं। इसकी सारी क्षमताएं महफिलें सजाने में व्यय हो चुकी हैं। इस समाज ने इसी जीवन-शैली को अपना अभीष्ट समझ लिया था और शेष सब कुछ उसके लिए तुच्छ प्रतीत होने लगा। विलासप्रियता के आकर्षणों ने मानसिक विकास को भारी क्षति पहुँचाई। यह समाज विलासिताओं की इस दुनिया में उतरकर फिर वापस नहीं लौटा। इसने जीवन के नये आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार करने की चेष्टा भी नहीं की।"

इस मरणासन्न पुरानी दुनिया के चित्रण के साथ-साथ सरशार उस नयी दुनिया की संभावना की ओर भी संकेत करते हैं जो नयी उपनिवेशवादी व्यवस्था की कोख से जन्म ले रही थी। इस नयी व्यवस्था में मध्यवर्ग का बड़ी तेज़ी के साथ उदय हुआ जो अतीत की बजाए भविष्य की ओर देख रहा था। यह तबका क्लर्कों, सरकारी अफ़सरों, शिक्षकों, पत्रकारों, वकीलों, डॉक्टरों और व्यापारियों से मिलकर बना था। अंग्रेज़ी हुकूमत के वफ़ादार मँझोले दर्जे के ज़मींदार भी इसी वर्ग से जुड़े हुए थे। इस युग में उत्तर भारत में जो समाज सुधार के आंदोलनों की गतिविधियाँ तेज़ हो रही थीं, उनमें यही वर्ग सक्रिय था। इनमें सर सैयद तहरीक और आर्य समाज का आंदोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आंदोलनों के दबाव और प्रभाव से समाज के ठहरे हुए जल में चेतना की नई तरंगें पैदा हो रही थीं। जीवन की व्यावहारिक पहलुओं से जुड़ी ये शक्तियाँ मिटती हुई व्यवस्था से बचाव करते हुए भविष्य का मार्ग दिखा रही थीं। नयी सामाजिक और वैज्ञानिक शिक्षाएँ सोच के नये दरवाज़े खोल रही थीं। 'फ़साना-ए-आज़ाद' का नायक आज़ाद इसी नई दुनिया का पैग़म्बर बनकर सामने आता है। वह भौतिक और मानसिक स्तर पर प्रकट होनेवाले नये परिवर्तनों को पूरे मन के साथ स्वीकार करता है। वह पुरानी व्यवस्था की दकियानूसी कल्पनाओं, रवैयों और घिसे-पिटे रीति-रिवाजों का खुलकर उपहास करता है। वह बताता है कि आधुनिक ज्ञान का प्रकाश ही रूढ़ियों और अंधविश्वासों के अंधकार को दूर कर सकता है। यहाँ पाठक को महसूस होता है कि आज़ाद, रतन नाथ सरशार ही का एक रूप है। सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में दोनों के विचारों में काफ़ी समानता है। 'फ़साना-ए-आज़ाद' के चौथे खंड में लिखते हैं :

"पुराने मज़हब के मसले और उसके उसूल कैसे थे और अब चंद जाहिलों ने किस कदर उनको तबाहओ-बर्बाद कर दिया है और फ़रेब का जाल फैलाकर सैंकड़ों को फाँसते हैं . . . . . हम देखते हैं कि एक मज़हब के

अगुआ दूसरे मज़हब के व्याख्याकारों से निहायत दुश्मनी और भेदभाव बरतते हैं यहां तक कि दंगा-फ़साद पर नौबत आ जाती है। . . . . .

मज़हब एक महान शाशवत सत्य और मानवीय भाव है और जो दोष इसमें पैदा हुए हैं वे कट्टर मजहबी लोगों और उनके विरोधियों की फिजूल की बहसों का नतीजा हैं। ज्ञान पुराने मज़हब के इन दोषों को धीरे-धीरे दूर कर रहा है। बस लोगों को चाहिए कि वे ज्ञान को मज़हब का दोस्त और मददगार समझें। ज्ञान और सत्य की खोज करता है और सत्य ही हरेक सच्चे मज़हब की बुनियाद है।"

आज़ाद जब मिस्र और रोम से वापस आते हैं तो उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन आ चुका है। वह बार-बार वहाँ के उन्मुक्त विचारों की मिसालें देते हैं और सर सैयद के-सुधार आंदोलन की हिमायत करते हैं। वह यूरोप के वैज्ञानिक ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि सृष्टि की वास्तविकताओं को इसके माध्यम से ही समझा जा सकता है। वह स्त्री-शिक्षा की भी पूरी शक्ति के साथ हिमायत करते हैं। सरशार, आज़ाद के माध्यम से स्वयं अपने प्रगतिशील विचारों को अभिव्यक्ति देते नज़र आते हैं। वह उन रीति-रिवाजों की तीखी आलोचना करते हैं जो मनुष्ता की भावना के विरुद्ध हैं। वह धर्म के नाम पर छूत-छात और जात-पाँत के भेद-भाव को उचित नहीं मानते। उनकी इच्छा है कि समाज-सुधार के आंदोलनों और नये ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से एक नया मस्तिष्क जन्म ले और एक नया समाज अस्तित्व में आये।

'फ़साना-ए-आज़ाद' एक बड़ा गुण, जिसके कारण इसे अतिशय लोकप्रियता प्राप्त हुई, हास्य-व्यंग्य की क्षमता है। यों तो सरशार के स्वभाव में भी हास्य और चंचलता कूट-कूट कर भरी हुई थी और इससे उन्होंने काम भी लिया है लेकिन 'फ़साना-ए-आज़ाद' का मुख्य स्रोत लखनऊ का ह्रासोन्मुख समाज और उसके अंतर्विरोध हैं। इस समाज के रंगारंग दृश्य सरशार हमें आज़ाद की निगाहों से दिखाते हैं, जो नये मस्तिष्क और नयी चेतना का व्यक्ति है। इसके आलावा प्रवक्ता की हैसियत से वह स्वयं भी इस समाज की विषमताओं और विचित्रताओं पर टिप्पणी करते जाते हैं। लखनऊ के सरल-हृदय नवाब, उनको लूटनेवाले चापलूस मुसाहिब, अफ़ीमची, बाँके, बहुरूपिए, बटेरबाज़ और मेलों और तमाशों की रौनक़ बढ़ाने वालों से हास्य-व्यंग्य की सामग्री जुटाते हैं।

लखनऊ का यह समाज साहस और वीरता तथा शिष्टाचार और मानवता के उन मूल्यों से वंचित हो गया था जो प्रगति के मूलाधार थे। साहस और वीरता के कार्य अतीत की कहानियाँ बन चुके थे। कोई सामूहिक भावना, कोई उद्देश्य उनके सामने

न था। व्यक्तिगत लाभ और सुख-प्राप्ति की इच्छा उनके चिंतन के केन्द्र में थी। और इसके लिए भी वे किसी मेहनत मज़दूरी के लिए तैयार न थे। एक दूसरे को खुश करना, हवाई बातों से मानसिक उत्तेजना पैदा करना, मामूली खुशियाँ बटोरना ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों का आधार था। वे या तो अतीत की गौरव-गाथा पर गर्व करते थे और उसके नशे में डूबे रहते थे या फिर अफ़ीम और दूसरे नशों में चूर होकर अपनी महानता, वीरता और बुद्धिमानी की झूठी कल्पनाओं में खो जाते हैं। जड़ता और सक्रियता, विचार और व्यव्हार, बुलंदी और पस्ती का यही अंतर्विरोध था और इससे पैदा होने वाली विषमताएँ थीं जो 'फ़साना-ए-आज़ाद' में हास्य-रस की सृष्टि करती हैं। कहीं यह हास्य घटना-स्थितियों में व्याप्त है, कहीं पात्रों के स्वभाव से भी उभरता है। कई आलोचकों का कहना है कि सरशार के हास्य में उथलापन है और इसमें अतिरंजना और कृत्रिमता का हस्तक्षेप ज़्यादा है। इसमें कुछ सच्चाई ज़रूर है लेकिन देखना यह है कि सरशार का विषय लखनऊ के विशिष्ट लोग नहीं, समूचा समाज था। वे अवाम थे जिसे इस समाज में जिंदगी और रौनक़ थी। आम लोगों के सोच और हास-परिहास में यों भी ज़्यादा गहराई नहीं होती। फिर यह कि इस ह्रासोन्मुख समाज की गतिविधियों पर सस्ती अभिरुचि का प्रभाव था। नोंक-झोंक, फ़ब्ती और हाज़िरजवाबी में भी अभिरुचि का यह सस्तापन देखा जा सकता है। कृत्रिमता और संकोच इसमें इतना रच-बस चुका था कि इसके बिना इस समाज की कल्पना ही असंभव थी। इसलिए सरशार के हास्य में भी इन रंगों का पैदा होना स्वाभाविक था। वह अतिशयोक्ति से वास्तविकता की रेखाओं को गहरा करते हैं और संवादों से नाटकीय वातावरण पैदा करके हास्य का रंग उभारते हैं। एक अवसर पर नवाब साहब के बटेर उड जाते हैं। इनमें उनका प्रिय बटेर 'सफ़शिकन' भी है। यह दृश्य देखिए :

चोबदार : (हाथ जोड़कर) जाँबख्शी हो तो अर्ज़ करूँ। बटेर सब उड़ गये।

नवाब : (हाथ मलते हए) सब ! अरे सब उड़ गये। हाय मेरे सफ़शिकन को जो ढूँढ़ लाये हज़ार नक्दा नक्द गिनवाये। इस वक्त मैं जीते जी मर मिटा। उफ़, उफ़ भई अभी सांडनी सवारों को हुक्म दो कि पाँच कोस का दौरा करें। जहाँ सफ़शिकन मिले समझा-बुझाकर ले ही आयें।

मुसाहिब : खुदा वंद समझाना कैसा ? वो भी कोई आदमी है कि समझ जाये। जानवर लाख पढ़े, फिर भी जानवर है।

नवाब : कोई है ?

रफ़का : हाज़िर पीरो मुर्शद खुदा बंद, जी हुजूर !

नवाब : इन पर जूते पड़ें, लो साहब हम तो इस वक्त घबराये हुए हैं, ये बात काटता है। सफ़शिकन को तुम ऐसे गधों से ज़्यादा तमीज़ है।

रफ़्का : सच है। वो तो अरबी समझ लेता है। दूसरे बोले - हुज़ूर उसको कुरान के कई पारे याद हैं। तीसरे ने कहा - कसम पंजतन पाक की, मैंने उसको नमाज़ पढ़ते देखा है। चौथे - एक दिन हँस रहा था। पाँचवे - अजी हमने तो डंड पेलते देखा है। नवाब साहब को उनकी बातों का यकीन आ गया। उस मुसाहिब बेचारे की गुद्दी पर दो-चार हाथ पड़ गये। बटेर क्या उड़ गये नवाब साहब के हाथों के तोते उड़ गये। आँखों से अश्क़ जारी। टप-टप आँसू गिर रहे हैं। कलेजा बल्लियों उछल रहा है। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। हाय रे मेरा सफ़शिकन, मेरा प्यारा सफ़शिकन :

अगर दानिस्तम अज़ रोजे अज़ल दागे जुदाई रा
नमी करदम रोशन चिरागे आशनाई रा[1]

मुझे तो उससे इश्क़ हो गया था जी। मैं तो उसकी बाँकी अदा पर जान देता था। यारो वो नुकीली चोंच, वो बेताबी से काकन चुगना। चखी खाई और डट गया। सैकड़ों मुकाबलों में लड़ा मगर कोरा आया। दो-दो चोंचें हुई और बटेर दुम दबाकर भागा। फिर सामना हुआ और मुँह फेर दिया। किस बाँकपन से झपटकर लात देता था कि पाली भर थर्रा उठती थी और उसकी बिसात ही क्या थी ? मंझौला जानवर लेकिन किस बला का कस-बल। और क़सम है सफ़शिकन ही की उसकी खूबियाँ तो मुझ पर आज खुलीं। ये तो मैं पहले ही जानता था कि वह हक़ानी[2] जानवर है। सूरत बटेर की मगर सीरत फुक्रा की और एक पंडित ने कहा था कि न जाने कैसी खंडत हो गयी नहीं तो इसका बड़ा दर्जा था। अब सुना कि नमाज़ भी पढ़ता था।

मुसाहिब : हुज़ूर को याद होगा कि रमज़ान शरीफ के महीने में उसने दिन के वक्त दाना तक न छुआ। हुज़ूर समझे थे कि बोदा हो गया मगर मैं ताड़ गया था कि रोज़ा-नमाज़ का पाबंद है।

ख़ोजी : जुले जलालहू, जुले जलालहू क्या पुरानी शान है। खुदावंद अब मैं हुज़ूर

---

१. अगर शुरु से मैं यह जानता कि मुझे विछोह का दुःख झेलना होगा, तो मैं तेरे प्रेम का दीपक ही न जलाता ।

२. तत्वज्ञानी आध्यत्मिक रुचिवाला

से कहता हूँ कि दस-पाँच दफ़ा मैने अफ़ीम भी पिला दी मगर खुदा की क़सम खुदा झूठ न बुलाये जो ज़रा भी नशा हुआ हो ! हाँ अंखियों में लाल-लाल डोरे तो पड़ गये थे।

मीर साहब : पीरो मुर्शद ! यक़ीन जानिए पिछले पहर से सुबह तक दड़बे से 'हक़ हक़' की आवाज़ आया करती थी। ग़फ़ूर तुमको भी हमने कई बार जगाकर सुनाया कि सफ़शिकन यादे खुदा में मसरूफ़ है।

ग़फ़ूर : हाँ मियाँ, पिछले पहर से 'हक़ हक़' किया करते थे और अक्सर देखा कि सजदा कर रहे हैं।

ख़ोजी : जुले जलालहू जुले जलालहू ! वाह मियाँ सफ़शिकन अली शाह !

नवाब : भई हमने उसे पहचाना ही नहीं -
अफसोस कि उम्रे-रफ़्ता ओ हुशियारी नेस्त
दरदा कि ख़्याल ख़्वेशतन दारी नेस्त[1]
उफ़ उफ़ भई कोई पंखा झलना।

मुसाहिबीन : (शोर मचाकर) पंखा लाओ, जल्दी सामने खड़े होकर झलो।

नवाब : पीतम जो मैं जानती कि पीत किये दुख होय
नगर ढिंढोरा पीटती पीत करे ना कोय

ख़ोजी : (पीनक से चौंक्कर) हाँ ज़रा ऊँचे सुरों में वाह उस्ताद छेड़ते जाइए। इस वक़्त तो मियाँ शोरी की रूह फड़क गई होगी।

नवाब : चुप नामाकूल ! कोई है, इनको यहाँ से टहलाओ। ये रईसों की सोहबत के लायक़ नहीं। मुझको भी कोई मुकर्रर किया है। यहाँ तो जी जलता है और अंदर ही अंदर फूँक रहा हूं। इसके नज़दीक क़व्वाली हो रही है।

ख़ोजी : खुदावंद, गुलाम तो इस दम अपने आपे में नहीं। सफ़शिकन का दरबा खाली हो और मैं अपने होशो-हवास से चौकस रहूँ ! मेरा माशूक नज़र से ग़ायब तो तबीयत क्यों कर हाज़िर हो ?"

गद्यांश कुछ विस्तृत हो गया। लेकिन सरशार के हास्य की शैली और भंगिमा को समझने के लिए यह आवश्यक था। यह सरशार के घटनामूलक हास्य का आम रंग है। वह अतिशयोक्ति से वास्तविक स्थितियों को रंगीन और हास्यपूर्ण बनाकर ज़्यादा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

---

१ अफसोस है कि हमारी उम्र गुजर गयी और हममें होशियारी नही आई। इस बात का दर्द है कि हमें अपना कोई ख्याल नहीं।

इसी गद्यांश में नवाब के एक अफ़ीमी लेकिन हाज़िर जवाब और होशियार मुसाहिब खोजी क़ा जिक्र भी आया है। 'फ़साना-ए-आज़ाद' का नायक यों तो आज़ाद है लेकिन हास्य की सृष्टि खोजी के चरित्र से ही होती है, यही चरित्र कहानी की जान है। उर्दू कथा-साहित्य में खोजी से ज्यादा दिलचस्प और जानदार चरित्र नहीं गढ़ा गया है। यह उर्दू के उन गिने-चुने पात्रों में से एक है जो हमारी स्मृति और संस्कृति का एक अंग ,बन चुके हैं।

खोजी अफ़ीम का प्रेमी है और दिन-रात इसके नशे में बेखुद रहता है लेकिन उसकी हर वक़्त की बेहोशी में एक होशमंदी का एहसास भी है। अत्यधिक कमज़ोर और दुबला-पतला होने पर भी वह वीरता और साहस की बातें करता है। निहायत बदसूरत है लेकिन पुरुष सौंदर्य में अपने-आपको बेमिसाल समझता है। हर व्यक्ति उसे लज्जित और उपेक्षित करता है लेकिन अपनी लज्जा और स्वाभिमान को जान से ज़्यादा प्यारा समझता है। वह जाहिल है लेकिन ज्ञान-ध्यान और फ़ारसी जबान में अपने आपको-अद्वितीय समझता है। वह किसी व्यक्ति और परिस्थिति से समझौता नहीं करता। अपनी आदतों से वह कभी लज्जित नहीं होता। आज़ाद से बिना शर्त वफ़ादारी उसके स्वभाव का सबसे उज्ज्वल पक्ष है। बड़े से बड़ा व्यक्तित्व और बड़ी-से-बड़ी घटना उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं ला पाती है। वह हर स्थिति और घटना का अपने ढंग से मुक़ाबला करता है। और उसका यह ढंग जितना अनोखा है उतना ही हास्योत्पादक भी है। इसलिए पाठक यह जानते हुए भी कि किसी घटना पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, उसकी सक्रियता में गहरी रुचि लेता है। उसकी उपस्थिति के अभाव में हर दृश्य निर्जीव प्रतीत होता है। ख़ोजी हमें हर कदम पर हर दृश्य में इतनी बार हँसाता है कि वह हमारी स्मृति पर अमिट-चिन्ह छोड़ जाता है।

सरशार हमें उसके बारे में बताते हैं, "पस्ता कद, कोताह गर्दन, तंग पेशानी . . . . . दो-दो माशे के हाथ-पाँव हैं। हवा ज़रा तेज़ चले तो कनी लगाने की जरूरत पड़े।" यह उसका शारीरिक अस्तित्व है लेकिन अपने घमंड में वह अपने-आपको रुस्तम का बेटा समझता है। वह बार-बार कहता है कि मेरी रग-रग में फौलाद कूट-कूट कर भरा है। वह कहता है :

> "बाप पहलवान, दादा पहलवान, परदादा मशहूर आदमी और मूरिसे आला[1] रुस्तम का नाम तो सबने सुना है। हिंदुस्तान में पहलवानों ने हमारा नाम सुना और कान पकड़ लिये। जो मुकाबले को आया उसने नीचा देखा।"

---

१. परिवार का वरिष्ठतम सदस्य जो विरसा देता है।

लेकिन ये 'भीमकाय' पहलवान, मामूली बौनों और औरतों से भी बुरी तरह पिटते हैं। हर लड़ाई में वे पटखनी खाते हैं लेकिन कपड़े झाड़कर खड़े हो जाते हैं। खोजी को सिर्फ अपने बल का ही घमंड नहीं है। अपनी कल्पना की दुनिया में वह स्वयं सुंदरता में भी अद्वितीय समझता है। उसे भ्रम है कि हर सुंदर स्त्री यहाँ तक कि परीज़ाद शहज़ादियाँ भी उसे देखते ही मोहित हो जाती हैं। वह कहता है :

"न हम इस कदर हसीन होते, न परियाँ जान देतीं, न यह नौबत आती। लेकिन एक-एक रग में हुस्न कूट-कूट कर भर दिया है। हुस्न, हुस्न, हाय हुस्न बला-ए-जान हो गया है।"

सिर्फ़ हसीन ही नहीं, पचास बरस की उम्र में वह अपने-आपको निहायत कमसिन भी समझता है :

"अजी अभी क्या है ? अभी शबाब के आलम में हमारी कैफ़ियत देखिएगा। जब ऐन जवानी का आलम होगा।"

जब वह आज़ाद के साथ बम्बई की एक सराय में ठहरता है तो सात फुट की एक मोटी-ताज़ी औरत से इश्क़ फ़रमाता है और उससे निकाह का आग्रह करता है। यह दृश्य देखिए :

"औरत ने झप से मियाँ खोजी को गोद में उठा लिया और बग़ल में दबाकर ले चली तो खोजी बहुत चर्राये, लाख हाथ-पाँव मारे। हज़ार जोर किये मगर उसने जो दबाया तो इस तरह ले चली जैसे कोई चिड़ीमार जानवरों को फड़फड़ाते हुए ले चले। अब सारा ज़माना देख रहा है कि खोजी फड़कते हुए जाते हैं। वह कशीदा कामत[1] औरत छम-छम करती हुई और फुर्ती के साथ कदम धरती हुई ये गई, वो गई। एक मुकाम पर खोजी भाग निकलने को थे लेकिन उसने फिर चपड़गट्टू किया।

खोजी : अब छोड़ती है या नहीं ? मगर दाढ़ी मैं बचा ही लूँगा।

औरत : ऐ, होश की दवा कर मर्दुए मैं अब उम्र भर तो छोड़ने का नाम लूँगी नहीं। हम भले मानसों की बहू-बेटियाँ छोड़ देना क्या जानें ? बस एक के सिर हो रहें। भागे कहाँ जाते हो मियाँ ?

खोजी : मियाँ अभी से क्यों कर हो गये ?

औरत : बस अब ज़्यादा टर्राओगे तो मैं अभी से चपतबाज़ी शुरू कर दूँगी। (गोदी से उतारकर) भला तुम भाग तो जाओ ?

ख़ोजी : यारो क्या अंधेर है ? मैं कुछ क़ैदी हूँ ?

---

१. गठे हुए शरीर वाली

औरत : (चपत देकर) और नहीं, कौन है तू ? आखिर तू है कौन ? अब मैं क्या कहीं जाने भी दूँगी ? ख़ोजी पीछे हटने लगे तो उसने पटे पकड़कर खूब बेभाव की लगाई। अब ये झल्लाये और शोर मचाया कि कोई है, लाना करोली तमाशाई बाज़ारी इर्द-गिर्द ठठ के ठठ लगाये खड़े हँस रहे हैं।

एक : क्या है, मियाँ क्या है ? यह धड़पकड़ कैसी ?

औरत : आप कोई काज़ी हैं ? ये हमारे मियाँ हैं। हम चाहें चपतियाएँ, धपयाएँ। फिर किसी को क्या ?

खोजी : वाह तो मियाँ बस धपयाने भर के ही हैं।

दूसरा : इनको बग़ल में दाबकर कहाँ ले चलीं ?

औरत : जिधर सींग समाये।

खोजी : हाय न हुई क़रोली[1]।

कांस्टेबल : क्या क़रोली। पहले लायसेंस तो दिखाओ। फिर कराली निकालो। हुंह। महरारू गर्दन दाबे उठाये लिये जात है वह करोली निकारत हैं।

तीसरा : अरे वाह रे बेग़ैरत, जुरुआ ने दबाया और धपयाया और तू सधा हुआ खड़ा है।

चौथा : तो हज़रत करे क्या ? वह ठहरी पचहथी डंड पैल। ये बेचारे दुबले-पतले मरियल आदमी। फिर इस देवनी की बराबरी कैसे कर सकें ?

खोजी : भाइयो, मेरी जान बचाओ।

लोग : ब्याह क्यों किया था ?

औरत : मियाँ-बीवी के झगड़े में आप लोग न पड़ें।

खोजी : मियाँ कौन मर्दूद है ?

औरत : तू मर्दूद, और कौन ?

खोजी : खुदा की मार जो इसके साथ निकाह भी हुआ हो।

औरत : भला मैं यूँ इनको बग़ल में दबोच कर ले आई।

लोग : जैसे बिल्ली अपने बच्चों को दबाकर घर ले जाती है।

कांस्टेबल : या जैसे दाई बच्चों को गोद में लेकर तमाशा दिखलाती है।''

सरशार ने वर्णन और संवादों की शक्ति से इस घटना को अत्यधिक जीवंत और सक्रिय रूप देकर प्रस्तुत किया है। इस तरह के असंख्य झगड़ों में, हर लड़ाई में और हर

---

१. शिकार के काम आने वाली छुरी।

शक्ति-परीक्षण में खोजी को पराजय मिलती है। लोग हँसते हैं, तमाशा देखते हैं। लेकिन खोजी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपने काल्पनिक अहंकार में इस पराजय को जीत में बदल लेता है। और अपने कारनामों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन करता जाता है। मिस्र के एक नामी-गरामी पहलवान से अपनी कुश्ती का हाल इस तरह सुनाता है :

> "उठा-उठा के दे मारा। उठाया और दे पटका। और किसको ? उस पहलवान को, तमाम मिस्र में अकेला था, जिसका नाम लेकर मिस्र के पहलवानों के उस्ताद कान पकड़ते थे। मियाँ सच ही तो है और उसको देखो तो आँखें खुल जायें। किसी का बदन चोर होता है, उसका क़द चोर है। पहले तो मुझे रेलता हुआ अखाड़े के बाहर ले गया और मैं भी चुपचाप चला गया। बस भाई फिर तो मैंने क़दम जमाकर जो रेला दिया तो बोल गया। अब पिचैती होने लगी। बड़े-बड़े जोड़ों में पिचैती कम होती है। मगर वह उस्ताद और मैंने तोड़ किया। वह पीठ पर आया। मैंने धता बताया। उसने दस्ती खींची, मैं बगली डूबा। उसने डंडा लगाया, मैंने उचक्कर काट लिया।"

इन संघर्षों का वर्णन ख़ोजी अफ़ीम की पीनक में ही करता है। दरअसल ख़ोजी जिस ह्रासोयोन्मुख समाज का प्रतीक है, वह शक्ति से वंचित हो चुका था। उसकी रचनात्मक क्षमताएँ नष्ट हो चुकी थीं। वह अफ़ीम और शराब में इस पराजय और अभावग्रस्तता का उपचार ढूँढ़ रहा था। वास्तविक और वर्तमान संसार में उसे जो नहीं मिलता, उसे वह काल्पनिक संसार में खोज लेता था। इसलिए डॉ. तबस्सुम काश्मीरी का यह विचार सही है कि "अवचेतन की दुनिया में अतीत की शक्ति और गरिमा ने अपने पंजे गाड़ रखे थे। वह हर क्षण इस शक्ति और गरिमा की मादकता में खोया रहता है। मगर अब यह अवास्तविक है जिसकी वह अभिव्यक्ति तो कर सकता है। उसे व्यावहारिक रूप देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। कर्म बहुत पीछे अतीत के भारी आवरण में दबा पड़ा है। उसकी साँस भी अब सुनाई नहीं देती। यह अतीत अब सिर्फ अवचेतन की चीज़ होकर रह गई और खोजी इसी अवचेतन की दुनिया का सफ़र जारी रखता है . . . . . इस सफ़र में वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है और पराजय का सामना करता है। वह स्वयं को अपराजेय महसूस करता है किंतु उसकी पराजय बेहद आसान है।"

'फ़साना-ए-आज़ाद' में सांस्कृतिक परिवेश के सजीव चित्रण में सबसे बड़ा हाथ उस भाषा का है जिसे सरशार ने अपनाया और उसका ऐसा सर्जनात्मक उपयोग किया

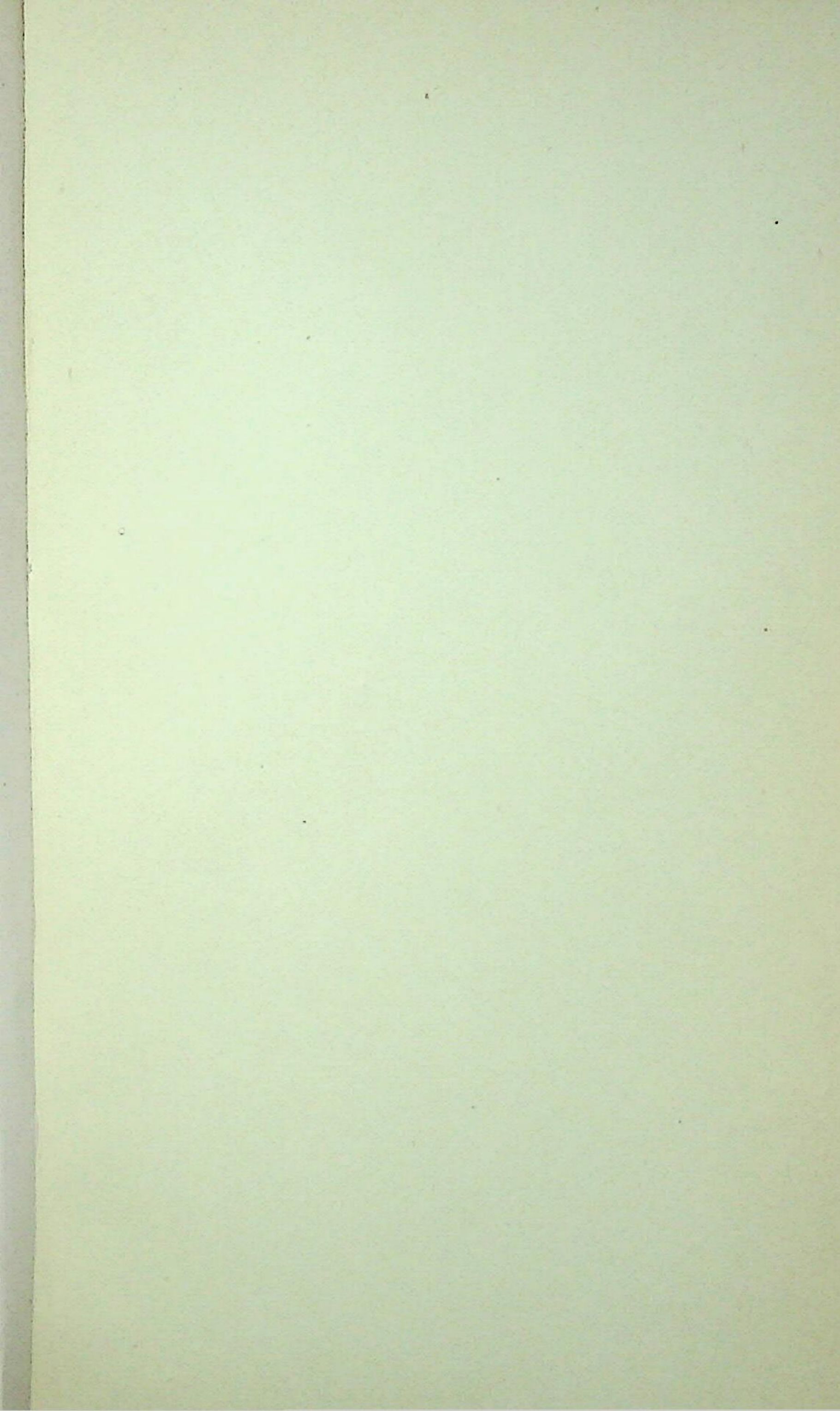
कि वह भाषा परिवेश का अभिन्न अंग बन गई। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है ऐसी अछूती भाषा-शैली के व्यवहार में कोई साहित्यकार सफल न हो सका। लखनऊ की जिस पुरानी भाषा को सरशार ने सर्जनात्मक ढंग से बरता उसके कई स्तर थे। नवाब और सम्भ्रांत लोगों की महफ़िलों में जिस मुहावरे और रोज़मर्रा का इस्तेमाल होता था, वह शहर की भटियारिनों और साकिनों से भिन्न था। इसी तरह घरों में बोली जाने वाली औरतों की भाषा, उनके मुहावरे और उनके लबो-लहजे का अंदाज़ भी भिन्न था। फिर मामूली दुकानदार, कामगार और आस-पास के कस्बों और गाँवों से आये हुए हज़ारों लोग जो रोज़ी-रोटी और सैर-सपाटे के लिए राजधानी में आते रहते थे, उनकी भाषा पर अवधी और दूसरी बोलियों के लबो-लहजे का प्रभाव था। लखनऊ के आम लोगों के सांस्कृतिक ज़ीवन और हर रूप-रंग के चित्रण क़ा हक़ वही कलाकार अदा कर सकता था, जो उसकी भाषा के हर स्तर हर रूप को आत्मसात कर चुका हो और उनकी पारस्परिक भिन्नता को समझता हो। इसके लिए सिर्फ़ बोलचाल की भाषा पर गहरी पकड़ काफ़ी नहीं थी। बल्कि ज़रूरी था कि हर वर्ग, हर समुदाय के रीति-रिवाज, वेश-भूषा और घरेलू इस्तेमाल की तमाम वस्तुओं की गहरी जानकारी हो। हर व्यवसाय और हर कला की बारीकियाँ ही नहीं, बल्कि विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली से एक श्रेष्ठ कलाकार की भाँति गहरा परिचय हो। और हर वर्ग के लोगों के मनोविज्ञान की भी बाक़ायदा समझ हो। सरशार ने 'फ़साना-ए-आज़ाद' में जिस तरह विभिन्न वर्गों के जीवन और परिवेश को वर्णनात्मक और नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया है और इसके माध्यम से युगीन संस्कृति को प्रतिबिंबित किया है, यह इस तथ्य का प्रमाण है कि सरशार को उस भाषा और उसकी शब्द-सम्पदा पर असाधारण अधिकार था। इस सिलसिले में अली अब्बास हुसैनी की यह राय बड़ी अहमियत रख़ती है कि "जहाँ तक निबंध-रचना, शैली एवं भंगिमा और नाटकीय-तत्त्व का सम्बन्ध है, किसी खंडन के भय के बिना कहा जा सकता है कि उर्दू के उपन्यासकारों में सरशार के बराबर कोई भी सफल नहीं हुआ है। शुरू में कहीं-कहीं पर (रजब अली बेग) सुरूर की शैली की झलक ज़रूर दिखाई देती है लेकिन बाद में तो वह सुरूर से कोसों आगे निकल गये और स्वयं अपनी शैली के आविष्कारक बन बैठे"।

यह सही है कि सरशार की अभिव्यक्ति पर शायराना तर्ज़ का आक्रमण-सा लगता है। यही नहीं कि अपनी गद्य-रचनाओं में वह उर्दू और फ़ारसी के सैकड़ों शे'र लिखते चले जाते हैं, बल्कि 'फ़साना-ए-आज़ाद' (भाग-१) में शायरी जैसे तुकांत वाक्यों का बाहुल्य है और कहीं-कहीं शायराना भाव-कल्पना से भी काम लेते हैं। कई घटनाओं के

वर्णन में कृत्रिमता और संकोच का थोड़ा बहुत मिश्रण दिखाई देता है। लेकिन यहाँ इस वास्तविकता को नहीं भुला देना चाहिए कि वह जिस पुरानी संस्कृति की चित्रकारी कर रहे थे वह एक ख़ास शायराना मिज़ाज और संकोचपूर्ण व्यवहार से ओतप्रोत थी और इसका सही रूपांतरण एक ऐसी ही शैली में सम्भव था जिसका चयन सरशार ने किया। इसके बावजूद सरशार की शैली और अभिव्यक्ति में स्पष्टता और प्रवाह की कमी महसूस नहीं होती। इसलिए वह किसी ऊँचाई या दूरी से नहीं, उस संस्कृति में डूबकर, उसके हर हाव-भाव में रच-बस कर उसका अवलोकन करते हैं और उसे व्यंजित करते हैं। उनकी गद्य-शैली की शक्ति का रहस्य आम लोगों के प्रति उनका आत्मीय-भाव है। पंडित बिशननारायण दर के शब्दों में, "सरशार की शैली हमें किसी असीम समुद्र के तट पर मौजूद होने की अनुभूति कराती है। वायु के तीव्र झोंके समुद्र की रवानी में तेज़ी पैदा कर देते हैं और उसके किनारे-किनारे घना जंगल है, जहाँ से साँय-साँय की आवाज़ आती रहती है। समुद्र की सतह पर यहाँ-वहाँ अवांछित और दुर्गंधयुक्त वस्तुएँ भी बहती नज़र आती हैं।"

सहायक पुस्तकें

१. उर्दू नावेल की तारीख़ और तन्क़ीद : अली अब्बास हुसैनी, इलाहाबाद, १९४४
२. सरशार की नावेल निगारी : डॉ. सैयद लतीफ़ हुसैन, अदीब, कराची, १९६१
३. सरशार : एक मुताला : प्रेमपाल अश्क, दिल्ली, १९६४
४. फ़साना-ए-आज़ाद : एक तन्क़ीदी जायज़ा : डॉ. तबस्सुम कश्मीरी, लाहौर, १९७८
५. गुज़िश्ता लखनऊ : अब्दुल हलीम शरर, दिल्ली, १९७७
६. एतबारे-नज़र : सैयद एहतेशाम हुसैन, लखनऊ, १९६५
७. मज़ामीने चकबस्त : ब्रजनारायण चकबस्त, इलाहाबाद, १९३६
८. कुछ नस्र में भी : आनंद नारायण मुल्ला, दिल्ली, १९७५
९. सरशार : बिशन नारायण दर की नज़र में : प्रेमपाल अश्क, दिल्ली, १९६६
१०. उर्दू के नामवर शायर और अदीब (अंग्रेज़ी) : सर अब्दुल क़ादिर, लाहौर, १९७४



रतन नाथ सरशार उर्दू के उन विशिष्ट साहित्यकारों में हैं जिनकी रचनाएँ क्लासिक की कोटि में आती हैं। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू भाषा में उपन्यास विधा को समृद्ध किया और उसे लखनऊ की मिटती हुई पुरानी संस्कृति का दर्पण बनाया। 'अवध अख़बार' के तेजस्वी संपादक, पत्रकार और अनुवादक के रूप में भी उनका योगदान अविस्मरणीय है। उनकी तमाम कृतियों में एक भावपूर्ण, सशक्त और अद्वितीय शैली झलकती है।

इस संक्षिप्त जीवनीपरक पुस्तक में लेखक डॉ. क़मर रईस ने रतन नाथ सरशार के जीवन और कृतित्व को उनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में प्रस्तुत किया है। इसलिए सरशार के व्यक्तित्व, उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा और रचनाओं को लखनऊ की ह्रासोन्मुख संस्कृति के अनगिनत दृश्यों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'फ़साना-ए-आज़ाद' का अध्ययन एक अलग अध्याय में किया गया है।

डॉ. क़मर रईस दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के वरिष्ठ अध्यापक एवं अध्यक्ष रहे हैं। मौजूदा दौर के उर्दू आलोचकों में उनका विशिष्ट स्थान है। वे कई वर्ष तक सोवियत संघ में उर्दू प्रोफ़ेसर के रूप में सेवारत रहे। 'प्रेमचंद का तन्क़ीदी मुताला', 'तन्क़ीदी तनाज़ुर' और 'तलाशी-तवाज़न' उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। उर्दू आलोचना में अपने योगदान के लिए उन्हें कई महत्त्वपूर्ण पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है।



REVISED PRICE RS. 15/-